उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत

उठो जागो और लक्ष्य प्राप्त किए बिना विश्राम मत लो।

# विवेक शिखा

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा का एकमात्र हिन्दी मासिकी

वर्ष—३ अगस्त-सितम्बर—१९८४ अंक—८-९

इष्टदेव का हृदय-कमल में रूप अनूप दिखा। निजानन्द में रखती अविचल विमल, 'विवेक शिखा'॥

संपादक

डॉ० केदारनाथ लाभ

सह संपादक

शिशिर कुमार मल्लिक

संपादकीय कार्यालय :

रामकृष्ण निलयम्

जयप्रकाश नगर,

छपरा—८४१३०१

(बिहार)

सहयोग राशि

| | |
|---|---|
| षड् वार्षिक | १०० रु० |
| त्रैवार्षिक | ५५ रु० |
| वार्षिक | २० रु० |
| एक प्रति | २ रु० ५० पैसे |

रचनाएँ एवं सहयोग - राशि संपादकीय कार्यालय के पते पर ही भेजने की कृपा करें।

## श्रीरामकृष्ण ने कहा है

(१)

तोते के गले में कण्ठी निकल आने पर उसे नहीं पढ़ाया जा सकता, जब तक वह बच्चा रहता है तभी तक आसानी से पढ़ना सीखता है। इसी तरह मनुष्य के बूढ़ा हो जाने पर उसका मन सहज में ईश्वर में स्थिर नहीं होता, बचपन में मन थोड़े ही प्रयत्न से आसानी से स्थिर हो सकता है।

(२)

सूई में धागा पिरोना हो तो धागे को पहले ऐंठ कर नुकीला बनाओ ताकि उसमें रोएँ न रहें। तभी वह सूई के छेद में से जा सकता है। मन को ईश्वर में निमग्न करना हो तो दीन, हीन, विनम्र बनो, वासनारूपी रोएँ दूर कर दो।

(३)

एक शिष्य को गुरु पर इतना विश्वास था कि वह 'गुरु-गुरु' कहते हुए विश्वास के बल पर नदी पार हो गया। यह देखकर गुरु ने सोचा, तो सचमुच ही मुझमें इतनी शक्ति है, मुझे तो अब तक यह पता ही नहीं था।' दूसरे दिन गुरु 'मैं-मैं' कहते हुए नदी पार होने गये, परन्तु पानी पर पैर रखते ही वे गिर पड़े और अपने को सम्हाल न पाकर डूब मरे! विश्वास का परिणाम अद्भुत होता है, परन्तु अहंकार से विनाश ही होता है।

(४)

पति के साथ रहते हुए भी जो स्त्री ब्रह्मचर्य का पालन करती है, वह तो साक्षात् भगवती ही है।

# श्रीकृष्ण वंदना

अधरं मधुरं वदनं मधुरं नयनं मधुरं हसितं मधुरम् ।
हृदयं मधुरं गमनं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम् ॥१॥
वचनं मधुरं चरितं मधुरं वसनं मधुरं वलितं मधुरम् ।
चलितं मधुरं भ्रमितं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम् ॥२॥
वेणुर्मधुरो रेणुर्मधुरः पाणिर्मधुरः पादौ मधुरौ ।
नृत्यं मधुरं सख्यं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम् ॥३॥
गीतं मधुरं पीतं मधुरं भुक्तं मधुरं सुप्तं मधुरम् ।
रूपं मधुरं तिलकं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम् ॥४॥
करणं मधुरं तरणं मधुरं हरणं मधुरं स्मरणं मधुरम् ।
वमितं मधुरं शमितं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम् ॥५॥
गुञ्जा मधुरा माला मधुरा यमुना मधुरा वीची मधुरा ।
सलिलं मधुरं कमलं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम् ॥६॥
गोपी मधुरा लीला मधुरा युक्तं मधुरं भुक्तं मधुरम् ।
दृष्टं मधुरं शिष्टं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम् ॥७॥
गोपा मधुरा गावो मधुरा यष्टिर्मधुरा सृष्टिर्मधुरा ।
दलितं मधुरं फलितं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम् ॥८॥

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यकृतं मधुराष्टकं सम्पूर्णम् ।

---

श्रीमधुराधिपतिका सभी कुछ मधुर है। उनके अधर मधुर हैं, मुख मधुर है, हृदय मधुर है और गति भी मधुर है ॥१॥ उनके वचन मधुर हैं, चरित्र मधुर हैं, वस्त्र मधुर हैं, अङ्गभङ्गी मधुर है और भ्रमण भी अति मधुर है; श्रीमधुराधिपति का सभी कुछ मधुर है ॥२॥ उनकी वेणु मधुर है, चरणरज मधुर है, करकमल मधुर है, चरण मधुर हैं, नृत्य मधुर हैं और सख्य भी अति मधुर है; मधुराधिपतिका सभी कुछ मधुर है ॥३॥ उनका गान मधुर है, पान मधुर है, भोजन मधुर है, शयन मधुर है, रूप मधुर है और तिलक भी अति मधुर है, श्रीमधुराधिपतिका सभी कुछ मधुर है ॥४॥ उनका कार्य मधुर है, तैरना मधुर है, हरण मधुर है, स्मरण मधुर है, उद्गार मधुर है और शान्ति भी अति मधुर है, श्रीमधुराधिपतिका सभी कुछ मधुर है ॥५॥ उनकी गुञ्जा मधुर है, माला मधुर है, यमुना मधुर है, उसकी तरंगें मधुर हैं, उसका जल मधुर है और कमल भी अति मधुर है, श्रीमधुराधिपतिका सभी कुछ मधुर है ॥६॥ गोपियाँ मधुर हैं, उनकी लीला मधुर है, निरीक्षण मधुर है और शिष्टाचार भी मधुर है, श्रीमधुराधिपति का सभी कुछ मधुर है ॥७॥ गोप मधुर हैं, गौएँ मधुर हैं, लकुटी मधुर है, रचना मधुर है, दलन मधुर है और उसका फल भी अति मधुर है, श्रीमधुराधिपति का सभी कुछ मधुर है ॥८॥

सम्पादकीय सम्बोधन

# जिन खोजा तिन पाइयाँ

**मेरे आत्मस्वरूप मित्रो,**

एक सुनार की दुकान के सामने राख का ढेर था। सुनार एक बड़े-से कड़ाह में कोयला जलाकर सोना-चाँदी गलाया करता था और आभूषण तैयार करता था। दुकान बन्द करते समय वह राख का ढेर बाहर फेंक देता था। उसी राख के ढेर पर कुछ बच्चे टूट पड़े थे। कुछ उसे झोली में भर रहे थे और कुछ वहीं राख को फैलाकर उसमें से कुछ बीन रहे थे। मैंने पूछा—"इस राख के ढेर में क्या रखा है कि लड़के इस पर झपट रहे हैं?" पता चला, सोना-चाँदी गलाने के क्रम में कुछ अंश उनका झड़ कर राख में गिर जाता है। ये बच्चे बड़े मनोयोग से उसे धोकर या फैलाकर उसमें से सोने-चाँदी के अवशेष अंश को निकाल लेते हैं और उसे बेचकर अपनी जीविका चलाते हैं। मैं हैरान हो गया। राख के ढेर में भी ढूँढ़ने पर सोने-चाँदी के कण मिल जाते हैं।

समुद्र के खारे पानी की गहराई में सीपियाँ भरी रहती हैं। उन सीपियों के भीतर मोती के अनमोल दाने भरे रहते हैं। मछुए पानी की गहराई में उतरते हैं, डुबकियाँ लगाते हैं और सीपियों को बीनकर उनमें से मोती निकाल लेते हैं। बाजार में उन मोतियों को बेचकर मालामाल हो जाते हैं, निहाल हो जाते हैं, धन्य हो जाते हैं।

मोती पाने के लिए समुद्र में उतरना पड़ता है। सोने-चाँदी के कण पाने के लिए राख के ढेर को उकेरना पड़ता है। बड़े साहस, बड़े विश्वास और बड़े धीरज का काम है यह। जो यह साहस नहीं जुटा पाते वे किनारे पर खड़े समुद्र की लहरें देखते रह जाते और सागर के फेन, कौड़ियों और शंखों को ही समेट कर रह जाते हैं। मोती उनके भाग्य में बदा नहीं रहता। जिनमें धीरज और विश्वास नहीं, वे राख के ढेर को राख समझकर ही लौट जाते हैं। महात्मा कबीर इसी से कहते हैं—

> **जिन खोजा तिन पाइयां गहरे पानी पैठ।**
> **मैं बौरी डूबन डरी, रही किनारे बैठ॥**

जो डूबने से डरता है वह किनारे पर ही बैठा रह जाता है। पाना है तो डुबकी लगाने का साहस जुटाना होगा। गहरे में उतरना ही होगा और गहरे में उतरने पर, डुबकियाँ लगाकर खोजने पर मोती मिल ही जाता है। ईसा मसीह कहते थे—Seek and ye shall find. खोजो और तुम पाओगे।

हमारे सामने भी संसार-सागर अपनी अनन्त लहरें उठा रहा है। अब यह हमारी इच्छा पर है कि इस संसार—सागर के गहरे उतर कर हम मोती बीन लें या फिर लहरों का छल भरा किन्तु मोहक नर्तन देखते हुए अपनी जिन्दगी विफलता के फेनों से भर लें।

लहरें क्षणिक हैं, नाशवान हैं, नश्वर हैं। जो लहरों के सौन्दर्य पर फिसल रहे हैं, वे अपने जीवन को धोखा दे रहे हैं। अपने विवेक का अनादर कर रहे हैं। सत्य से मुकर रहे हैं। एक झूठ—एक बड़े झूठ को पकड़ने की कोशिश में स्वयं लुट रहे हैं। संसार क्षणिक है, नाशवान है, नश्वर है। जो संसार के सौन्दर्य पर मुग्ध हो भटक रहे हैं, वे स्वयं को धोखा दे रहे हैं। अपने से छल कर रहे हैं। अपने विवेक का अनादर कर रहे हैं। सत्य से मुकर रहे हैं। एक झूठ—एक बहुत बड़े झूठ को पकड़ने की कोशिश में स्वयं लुट रहे हैं।

संसार कहते ही हैं उसको, जो स्थिर नहीं है, चल है, नश्वर है। जो असत् है, वह संसार है। जो भ्रम है, वह संसार है। जो क्षणिक है, वह संसार हैं। इनके अतिरिक्त संसार और कुछ है ही नहीं। और जो सत्य है, जो अविनश्वर है, जो शाश्वत है, वह ईश्वर है। जो क्षणिक है. नाशवान है, चल है उसके व्यामोह में पड़ना दुःख को अपने हाथों सिरजना है। जो शाश्वत है उसकी खोज में पड़ना और उसे उपलब्ध करना, आनन्द का संधान करना और उसे उपलब्ध करना है। इसीलिए संसार अपने परिणाम में दुःख है, कष्ट है, अंधकार है, मृत्यु है और ईश्वर जीवन है, प्रकाश है, आनन्द है। ऋषिगण इसी से प्रार्थना करते हैं—'हमें अन्धकार से प्रकाश की ओर ले चल, असत् से सत् की ओर ले चल, मृत्यु से अमृत की ओर ले चल।' संसार की नश्वरता को जानकर ही श्रीरामकृष्ण प्रायः कहा करते थे, "अगर मैं जानता कि यह संसार शाश्वत है तो मैं कामारपुकुर (अपने जन्म स्थान) को सोने से मढ़ देता, लेकिन इस संसार में कुछ भी स्थायी नहीं है।" इसलिए हमारा यह धर्म हो जाता है कि इस जगत में जो स्थायी है, जो प्रकाश है, जो अमृत है, जो आनन्द है अर्थात् जो ईश्वर है, हमारा आत्म-स्वरूप है उसे किसी भी प्रकार से प्राप्त कर लिया जाय। भगवान श्रीकृष्ण ने संसार की इसी नश्वरता की ओर संकेत करते हुए अर्जुन को निर्देश दिया—'अनित्यम् असुखम् लोकं इमं प्राप्य भजस्य माम्।' इस अनित्य, दुःखपूर्ण संसार में आकर मेरा भजन करो।

हमारा बाहरी रूप ही संसार है। हम अपने गहरे में, अपनी मूल प्रकृति में वह नहीं है जो हम बाहर से दीखते हैं।

क्या है हमारा मूल स्वरूप? क्या है हमारी मूल प्रकृति? वही अमृतमय, प्रकाशमय, नित्य, आनन्दमय हमारा स्वरूप है। इसे जान लें तो हम ईश्वर को उपलब्ध हो गये। तो हम आत्मोपलब्ध हो गये। तो हम अमृत हो गये। यह केवल कहने की बात नहीं है। इसे विवेक से भी हम समझ सकते हैं। जिसकी जो प्रकृति होती है वह उसकी विपरीत स्थिति में विकल हो जाता है। और वह अपनी प्रकृति के अनुकूल वातावरण के लिए छटपटाने लगता है। मछली की मूल प्रकृति है पानी में रहना। अगर उसे पानी से अलग कर दिया जाय तो वह धरती पर छटपटाने लगती है और पानी में लौट जाने के लिए तड़पने लगती है। अगर किसी लता को छाँह में रख दें तो वह कुछ ही दिनों में उस ओर बढ़ जाती है जिधर उसे धूप मिल सके। उसी तरह हम भी उस मूल प्रकृति में लौट आने के लिए बराबर छटपटाते रहते हैं। संसार में किये जाने वाले हमारे सारे चक्कर—स्कूल, कॉलेज जाना, सिनेमा देखना, कामिनियों के प्रेम-पाश में बँधने के लिए मचलना, धन इकट्ठे करना, मान-यश के पीछे दौड़ना—अपनी मूल प्रकृति में लौट आने के लिए किये जाने वाले अज्ञान पूर्ण प्रयास ही हैं।

हमारी मूल प्रकृति है सत्-चित्-आनन्द। हमारा मूल स्वरूप है—सच्चिदानन्द स्वरूप। इसे ऐसे समझें। हम लोग कभी मरना नहीं चाहते। हम सदा-सर्वदा यहाँ रहना चाहते हैं। एक कीट से लेकर मनुष्य तक सब में जीने की—जीवित रहने की—प्रबल उद्दाम आकांक्षा रहती है। आखिर क्यों? क्योंकि हमारी मूल प्रकृति है—सत् स्वरूप। इसीसे जाने-अनजाने हम उस स्वरूप में लौट जाना चाहते हैं जिसे हम भूल गये हैं। फिर हम कितना भी लिखें-पढ़ें, सारे शास्त्रों को मथ डालें, तो भी, हम अपने ज्ञान से संतुष्ट नहीं होते। हम अनंत ज्ञान, परम ज्ञान चाहते हैं। हम वह ज्ञान चाहते हैं जिसके पाने के बाद और कुछ जानना शेष नहीं रहे। इससे प्रतीत होता है कि हमारा मूल स्वरूप चित्स्वरूप है। और हम सदैव सुखी, सदैव प्रसन्न, सदैव आनन्दमय रहना चाहते हैं। हम में से कौन यहाँ क्लेश, दुःख, पीड़ा या वेदना चाहता है? ऐसा इसलिए है कि हमारी मूल प्रकृति ही है—आनन्द स्वरूप। अनन्त-अमर जीवन, अनन्त-अशेष ज्ञान और

अनन्त-अखंड आनन्द ! यही हमारा स्वभाव है, स्वरूप है। सच्चिदानन्द स्वरूप ही वस्तुतः हम हैं। और ईश्वर भी सच्चिदानन्द ही है। अतः अपने स्वरूप को जानकर, अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होकर, अपने स्वरूप को उपलब्ध कर हम ईश्वर को ही जानते हैं, ईश्वर में ही प्रतिष्ठित होते हैं और ईश्वर को ही उपलब्ध करते हैं।

हमने अज्ञानतावश अपने मूल स्वरूप को भुला दिया है। इस अनित्य संसार को नित्य मानना ही अज्ञान है। इस नश्वर शरीर को शाश्वत और सुन्दर मानना ही अज्ञान है। इन्द्रियों से प्राप्त होने वाले सुखों को आनन्द मानना ही अज्ञान है। नहीं, हमें अपने मूल-स्वरूप में लौटना ही होगा—नित्य अमर जीवन के लिए, अनन्त ज्ञान और अखंड आनन्द के लिए।

कैसे हम अपने मूलस्वरूप में लौट सकते हैं? ऋषियों ने इसके लिए चार मार्ग बताये हैं—कर्म योग, ज्ञान योग, भक्ति योग और राज योग। सभी धर्मों में इनमें से ही एक, एकाधिक या सबका निर्देश किया गया हैं। अन्तर केवल बाह्य-विधान, पूजा-आचार, पद्धति और शब्दों का है। इन्हीं पथों पर चलकर 'मैं और मेरा' के क्षुद्र अहं की ग्रंथि को काटा जा सकता है।

निष्काम भाव से करने योग्य कर्म को करना कर्म योग है। हम इस योग के द्वारा दूसरों के दुःख से द्रवित होकर, उनसे तदाकार होकर, क्षण भर अपनी देह, अपनी कामना आदि को विस्मृत कर जाते हैं। इस पथ पर चलकर धीरे-धीरे हम अपने अहं को भूलकर विश्व-चेतना के साथ जुड़ जाते हैं और विश्वात्मा से अपनी आत्मा को एकाकार कर आत्मोपलब्ध हो जाते हैं।

नित्य और अनित्य में, सत् और असत् में 'नेति-नेति' यह नहीं, यह नहीं—के द्वारा भेदकर नित्य और सत् के प्रति ही अनुरक्त होना ज्ञान-योग है ! इस मार्ग के द्वारा हम अपने शरीर, मन, बुद्धि, अहंकार आदि को छोड़कर शुद्ध आत्मतत्व में प्रतिष्ठित हो जाते हैं और अपने स्वरूप को जान लेते हैं।

ईश्वर से प्रेमपूर्ण सम्बन्ध स्थापित कर, उनकी प्रार्थना, सेवा और उनके प्रति समग्र समर्पण करना भक्ति योग है। इस मार्ग पर चलकर हम ईश्वर से तादात्म्य स्थापित कर उन्हें प्राप्त कर लेते हैं।

अपनी वृत्तियों के संयमन के द्वारा अपने मन को नियंत्रित और एकाग्र करना राज योग है। इसके द्वारा हम अपनी समस्त कामनाओं पर विजय प्राप्त कर मन को निश्चल और स्वयं को संतुलित—स्थितप्रज्ञ बना लेते हैं। हमारा चित्त शान्त और स्थिर हो जाता है। शान्त चित्त में ही प्रभु का दर्शन हो पाता है। जैसे लहरों से मुक्त सरोवर में ही चन्द्रमा का दर्शन हो सकता है उसी प्रकार वृत्तिहीन, शान्त हृदय-सरोवर में ही प्रभु के चन्द्रमुख का दर्शन या आत्मस्वरूप का साक्षात्कार किया जा सकता है।

ये चार मार्ग चार प्रकार की प्रमुख मनोवृत्तिवाले व्यक्तियों के लिए सुझाये गये हैं। लेकिन वास्तविक जीवन में हम देखते हैं कि न तो कोई केवल कर्मशील होता है, न केवल मात्र ज्ञान-प्रवण, न मात्र भावुक और न मात्र राजयोगी। हमारी मानसिकता ऐसी है कि हम कमोबेश सब में थोड़ी-बहुत रुझान रखते हैं। इसलिए उत्तम यह है कि हम संश्लिष्ट योग का अभ्यास करें। अर्थात् कम से कम तीन मार्गों की एक साथ साधना करें—कुछ ज्ञान भी, कुछ कर्म भी और कुछ भक्ति भी। या ज्ञान, कर्म तथा राज योग की साधना करें। श्रीरामकृष्ण कहा करते थे कि 'चिड़िया दो पंखों और एक पूँछ के बल पर ही उड़ सकती है।' इसी प्रकार हमें भी तीन मार्गों को मिलाकर चलना चाहिए। यह एक प्रकार की रासायनिक साधना है, संश्लिष्ट साधना है।

साधना चाहे कैसी भी हो, यह निरंतरता की तलाश करती है। कोई भी योग दो-चार दिनों या दो-चार वर्षों में सिद्ध नहीं होता। अखंड विश्वास, अनन्त प्रेम और श्रद्धा तथा अटूट धीरज के साथ हमें अध्यात्म के पथ पर बढ़ना होगा। निरंतर जप-भजन, सांसारिक कर्मों को करते हुए भी प्रभु चिन्तन, इष्ट-स्मरण, ये सब

आवश्यक हैं। श्री नारद कहते हैं—'अव्यावृत भजनात् ! अर्थात् सर्वदा भगवान के भजन के फलस्वरूप पराभक्ति मिलती है और ईश्वर-दर्शन होता है। यह है नित्य योग। हमारे मन की बनावट कुछ ऐसी है कि वह क्षण भर को भी शांत और चुप नहीं रहता। या तो वह इष्ट-चिन्तन करेगा या विषय-चिन्तन। या तो वह भजनानन्द में रस लेगा या विषयानन्द में। इष्ट चिन्तन जहाँ रुका कि तुरन्त विषय-चिन्तन में मन लीन हो जायगा। लेकिन यदि मन भजनानन्द में लगा रहे, डूबा रहे, तो विषय-वासना के लिए चिन्तन की फुर्सत ही कहाँ मिलेगी? जिसका मन रात दिन प्रभु-चिन्तन में लगा रहता है, वह गाता है—

**अब किसी महफिल में जाने की हमें फुर्सत नहीं**
**औ किसी से दिल लगाने की हमें फुर्सत नहीं।**

कहाँ है उसे फुर्सत कि वह संसार की झूठी खूबसूरती पर जान न्योछावर करे, संसारी प्राणियों पर अपने मन-प्राण अर्पित करे! प्लास्टिक के फूल पर भौंरे नहीं मँडराते। उस फूल में असली फूल की न तो कोमलता होती है, न रसमयता, न गंधवत्ता होती है न मोहकता। संसार की सुन्दरता प्लास्टिक के फूल से अधिक नहीं होती। जो असली फूल के सौदागर हैं, वे प्लास्टिक के फूल की ओर मुड़कर भी नहीं देखते। इसलिए विषयासक्ति से विरत होकर हम निष्काम कर्म, परम ज्ञान, प्रेमाभक्ति, या जप-ध्यान के परम रमणीय जगत की ओर लौट सकते हैं।

बहुत संभव है कि शुरू में, आरंभ के तीन-चार वर्षों में जप-ध्यान, इष्ट-चिन्तन, प्रभु-स्मरण आदि हमें नीरस, ऊबाऊ और फीके लगें। लगें क्या, लगते ही हैं। लेकिन अभ्यास की निरंतरता हमारी साधना में प्राण डाल देती है, रस भर देती है, सम्मोहक रंग उड़ेल देती है। साधना की इस निरंतरता से हमारे भीतर एक फूल चटखता है, एक गंध उमड़ती है, एक रस-निर्झर फूटता है, एक अमृत कुंड निकल आता है। हम उस फूल का, उस गंध का, उस रस का, उस अमृत-कुंड के शीतल जल का आस्वादन करने लगते हैं और फिर हमारा मन संसार में नहीं जाता। वह अखंड आनन्द में भींगता रहता है।

हमारी यह साधना हमें प्रभु के निकट ले जाती है। हमारा हृदय-कपाट खुल जाता है। हमारे चित्-पटल पर हमारे इष्ट उतर आते हैं। हमें वह हीरा मिल जाता है जिसकी तलाश, जिसकी खोज हम इतनी तल्लीनता से कर रहे थे।

साधना में, इसीलिए एक गहरे आत्म-विश्वास की जरूरत है। हमें यह दृढ़ आस्था रखनी ही पड़ेगी कि हम इसी शरीर में और इसी जीवन में ईश्वर को उपलब्ध करेंगे। क्या हुआ अगर अबतक वे नहीं मिले! उन्हें तो मिलना ही है। तुरत फल नहीं मिलने से हम निराश क्यों हों? श्रीरामकृष्ण कहा करते थे—'जो खानदानी किसान हैं वे एकाध साल पानी नहीं पड़ने से खेती नहीं छोड़ देते। लेकिन जो कभी-कभी खेती करते हैं वे एकाध बार ही पानी नहीं बरसने पर खेती छोड़ देते हैं। लेकिन खानदानी किसान के साथ ऐसी बात नहीं होती। वह दिन पर दिन, वर्ष पर वर्ष अपनी खेती में लगा रहता है, जब तक कि उसे वर्षा का जल न मिल जाय। इसी प्रकार सच्चा साधक साधना करता चलता है प्रभु दर्शन से प्राप्त होने वाले आनन्द की जब तक उसे उपलब्धि न हो जाय।' और जैसे सच्चे किसान को वर्षा का जल मिलकर रहता है वैसे ही सच्चे साधक को आत्मोपलब्धि होकर रहती है, प्रभु-दर्शन होकर रहता है, परमानन्द की प्राप्ति होकर रहती है।

हर साधक पर प्रभु की कृपा बरसती ही है—आज या कल। हम क्यों न अपनी साधना आज और अभी से शुरू कर दें? भगवान श्रीरामकृष्ण से मेरी आंतरिक प्रार्थना है कि वे हम में—हम सब में—प्रभु की खोज की अमर पिपासा भर दें ताकि हमें प्रभु की कृपा मिले और आत्म-साक्षात्कार हो, प्रभु-दर्शन हो। हम अनन्त अमर जीवन, अनन्त ज्ञान और अखंड आनन्द को उपलब्ध कर सकें।

मेरी प्रार्थना है—
**जो चाहे मन-मधुप तू नित अखंड आनन्द।**
**रामकृष्ण-पद-पद्म का पीता रह मकरन्द॥**

जय श्रीरामकृष्ण !

# पार्थसारथी श्रीकृष्ण

—स्वामी ब्रह्मेशानन्द
रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, वाराणसी

### धर्म ग्रन्थों में रथ

सूक्ष्म आध्यात्मिक सत्यों को प्रायः दृष्टान्तों एवं आख्यायिकाओं, उपमाओं एवं रूपकों की सहायता से समझाया जाता है। 'रथ' भी ऐसा ही एक रूपक है जिसका उपयोग आध्यात्मिक साहित्य में काफी किया गया है। कठोपनिषद् में देह की तुलना रथ से की गयी है तथा उसकी सहायता से जीवात्मा का स्वरूप समझाने का प्रयत्न किया गया है।

**आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।**
**बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥**
**इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान् ।**
**आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥**
(कठोपनिषद्, १,२,३-४)

अर्थात् "आत्मा को रथी और शरीर को रथ जानो। बुद्धि को सारथी एवं मन को लगाम जानो। इन्द्रियाँ घोड़े कहे गये हैं, जो विषयरूपी मार्गों पर धावित होते हैं। इन्द्रियाँ, मन एवं बुद्धि से युक्त आत्मा, भोक्ता अर्थात जीव कहलाता है।"

रामचरित-मानस के पाठक लंका काण्ड में वर्णित 'धर्म रथ' से परिचित ही हैं।

रावनु रथी विरथ रघुवीरा ।
देखि विभीषन भयउ अधीरा ॥
अधिक प्रीति मन भा सन्देहा ।
बन्दि चरन कह सहित सनेहा ॥
नाथ न रथ नहि तन पद त्राना ।
केहि विधि जितब बीर बलवाना ॥
सुनहु सखा कह कृपानिधाना ।
जेहि जय होइ सो स्यन्दन आना ॥
सौरज धीरज तेहि रथ चाका ।
सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका ॥
बल बिवेक दम परहित घोरे ।
छमा कृपा समता रजु जोरे ॥
ईस भजनु सारथी सुजाना ।
बिरति चर्म सन्तोष कृपाना ॥
(राम.च.मा. ६,७९,१-४)

यहाँ नैतिक आदर्शों से युक्त एक सुन्दर रथ का वर्णन किया गया है, जिसमें शौर्य और धैर्य पहिये हैं, सत्य और शील ध्वजा और पताका हैं। बल, विवेक, दम और परहित घोड़े हैं जो कृपा, क्षमा और समता की डोरों से बंधे हुए हैं। ईश्वर का भजन इस धर्म-रथ का सारथी है, इत्यादि।

फिर श्री जगन्नाथ महाप्रभु का भी एक प्रसिद्ध रथ है, जिसे वैष्णव इतना पवित्र मानते हैं कि ऐसी मान्यता हैं कि उसमे विराजित भगवान का दर्शन जन्म-मरण के चक्कर से मुक्ति प्रदान करता है। 'रथे च वामनं दृष्ट्वा पुनर्जन्म न विद्यते' लेकिन अन्य लोग इस कथन को देह रूपी रथ में आसीन शुद्ध चैतन्य, आत्मा के दर्शन के अर्थ में लेते हैं।

एक और भी रथ है, जिससे सभी हिन्दू परिचित हैं—अर्जुन का वह रथ जिसपर बैठकर भगवान श्रीकृष्ण ने गीता का उपदेश दिया था। श्रीमद्‌भगवद्गीता के इतने लोकप्रिय होने, तथा उसके उपदेशों के इतने

महत्वपूर्ण होने के कारण जिस रथ पर बैठ कर उसका गान हुआ था, उसका महत्व गौण हो जाता है। सामान्यतः यह रथ एक वाहन मात्र समझा जाता है, तथा इससे अधिक उसकी कोई सार्थकता भी हो सकती है, इस ओर किसी की दृष्टि नहीं जाती। गीतागायक श्रीकृष्ण के अनेक चित्र खींचे जा चुके हैं, किन्तु वर्तमान काल में स्वामी विवेकानन्द ने ही इसके आध्यात्मिक महत्व की ओर संकेत किया है। स्वामी जी कहते हैं "श्रीकृष्ण का चित्रण वैसा ही होना चाहिये जैसे वे थे— गीता के मूर्तस्वरूप!...शरीर का एक-एक अंग कार्यरत है और फिर भी मुख पर नील गगन की गंभीर शान्ति और प्रसन्नता व्याप्त है। यही तो गीता का मूल तत्व है—सब परिस्थितियों में शान्त और स्थिर, अनुद्विग्न रहते हुए—शरीर, मन और आत्मा ईश्वर के चरणों में समर्पित कर देना।" (विवेकानन्द साहित्य, अष्टम खण्ड १९६३ पृ. २३८-२३९) वस्तुतः यह रथ एक अत्यन्त उपयोगी 'ध्यान-चित्र' है, जिसमें कठोपनिषद् के दार्शनिक तत्वों तथा रामचरित मानस के धर्मरथ के मौलिक आदर्शों का समावेश तो है ही, यह इससे भी उच्चतर आदर्श प्रकट करता है।

**रथ का आध्यात्मिक महत्व**

रथ का वर्णन करते हुए स्वामीजी कहते हैं, "श्रीकृष्ण ने घोड़ों की रास इस प्रकार पकड़ रखी है—रास इतनी तनी है कि घोड़े अपने पिछले पैरों पर उठ गये हैं, उनके अगले पैर हवा में उठे है, और मुँह खुल गये हैं।" (वि.सा खं. ८. पृ. २३८) शक्तिशाली, चंचल, दौड़ने को आतुर घोड़े, तीक्ष्ण एवं प्रबल इन्द्रियों के प्रतीक है, जिन्हें मन रूपी लगाम द्वारा संयत रखा गया है।

इन्द्रियाँ स्वभावतः बहिर्मुखी होती हैं। इन्द्रियों की बाहरी विषयों की ओर भागने की यह प्रवृति साधक की सबसे बड़ी समस्या है जो उन्हें अन्तर्मुखी करके आत्मा का दर्शन करना चाहता है। जैसा कि कठोपनिषद् में कहा गया है,

**पराञ्चिखानि व्यतृणत्स्वयंभू—**
**स्तस्मात्पराङ पश्यति नान्तरात्मन्।**
**कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षद्**
**आवृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥** क. उ. १. ३ .१

अर्थात् परमात्मा ने इन्द्रियों को बहिर्मुखी बनाकर मानो उनकी हत्या ही कर डाली, अतः वे बाहर देखती है, भीतर की ओर नहीं। अमृतत्व की इच्छा करने वाला कोई धीर प्रत्यगात्मा को देखने के लिए चक्षुओं को अन्तर्मुखी बनाता है।

गीता में कहा गया है कि जिसप्रकार कछुआ अपने अंगो को अपनी देह के भीतर खींच लेता है उसी प्रकार इन्द्रियों को विषयों से अलग कर लेना चाहिये। लेकिन मानव की ज्ञानेन्द्रियाँ कछुए के पैरों की तरह नहीं है जिन्हें भीतर खींच लिया जा सके। अधिक से अधिक आंखें मूंद ली जा सकती हैं, या कानों में रूई ठूस कर उन्हें बन्द कर लिया जा सकता है, लेकिन नाक और त्वचा से तो संवेदन प्राप्त होता ही रहेगा, यदि वे अपने विषयों के संस्पर्श में आयें। कुछ लोग विषय-संस्पर्श से बचने के लिये निर्जन में चले जाते हैं। कुछ अन्य मूर्खता पूर्वक कठोर तपस्या द्वारा शरीर को कृश करके इन्द्रियों को दुर्बल करने का प्रयत्न करते हैं। यह तो मानो घोड़ों को मार-मार कर अधमरा बनाने जैसा है। लेकिन इन्द्रियसंयम का यह सही तरीका नहीं है। वस्तुतः बहिरिन्द्रिय तो मस्तिष्क में स्थित वास्तविक इन्द्रिय का बाह्य गोलक मात्र है जिससे वह स्नायुओं (Nerves) के द्वारा जुड़ी हुई है। अतः इस मस्तिष्क-स्थित अन्तरिन्द्रिय का नियमन ही वास्तविक इन्द्रिय संयम है। आध्यात्मिक महापुरुषों में भी यही बात देखने को मिलती है। चैतन्य महाप्रभु की जिह्वा पर चीनी डाल देने पर भी उन्हें उसका स्वाद नहीं मिला और लार के अभाव में वह हवा से उड़ गयी। श्रीरामकृष्ण के प्रचलित चित्र में उनकी आंखें खुली हुई हैं, लेकिन वास्तविकता यह है कि यह चित्र उनकी उच्च समाधि अवस्था का है, जब उनकी बाह्य चेतना का पूरी तरह लोप हो गया था। तात्पर्य यह कि इन्द्रियों के तीक्ष्ण, सबल होते हुए भी उनका

आन्तरिक निरोध किया जा सकता है, और यही वास्तविक निरोध भी है।

रास द्वारा परिलक्षित मन कैसा होना चाहिये ? गीता के अनुसार जब मनुष्य मन की समस्त कामनाओं का त्याग करता है तब वह स्थितप्रज्ञ कहलाता है। मन में असंख्य विचार एक के बाद एक उठते रहते हैं, किन्तु कामनाएँ तभी पैदा होती हैं जब इन्द्रिय विषयों के साथ आसक्ति हो जाती है, 'संगात्संजायते कामः'। अतः आसक्ति एवं रागद्वेष रहित व्यक्ति विषयों के बीच भी अविचलित रह सकता है। मन मे उठ रहे असंख्य विचारों का प्रवाह हानिकारक नहीं है, किन्तु आसक्ति एवं रागद्वेष से प्रेरित हो विषयों को प्राप्त करने की तथा कर्मों के फलों की इच्छा जो कामना कहलाती है, वह बन्धन का कारण है। गीता में इसे 'संकलपप्रभवान् कामान्' कहा गया है तथा संकल्प परित्याग का बार-बार निर्देश दिया गया है। श्रेष्ठ भक्त अथवा गुणातीत मुनि अपने मन में उठ रहे विचारों को इच्छा में परिणत नहीं होने देता। वह सर्वारंभ एवं सर्वसंकल्पों का त्याग करता है।

रथ की लगाम सारथी के हाथ में रहती हैं, जो बुद्धि का प्रतीक है। बुद्धि एक निष्ठ एवं भगवान में निविष्ट होनी चाहिये। वस्तुतः अपने तथा बहिर्जगत के प्रति हमारा दृष्टिकोण ही बुद्धि कहलाता है। गीता में इस शब्द का उपयोग इसी अर्थ में किया गया है, विशेष कर द्वितीय अध्याय में, जहाँ सांख्य-बुद्धि तथा योग-बुद्धि का वर्णन है। (गीता,२,३९, अधिकांश लोगों की देह के प्रति आत्मबुद्धि तथा संसार के प्रति आसक्ति रहती है "मैं देह हूँ तथा जगत् के विषय पदार्थ मेरे हैं" यही है अंहता व ममता, जो बन्धन का कारण है तथा जिसके कारण मन इन्द्रियों के माध्यम से विषयों की ओर भागने लगता है। लेकिन जब यह बोध हो जाता है कि "मैं नश्वर देह नहीं बल्कि नित्य अमर आत्मा हूँ, तथा बाह्य जगत अस्थायी एवं क्षणभंगुर है," तब मन शान्त हो जाता है, और इन्द्रियाँ भी सहज ही अन्तर्मुखी हो जाती हैं।

तात्पर्य यह कि इन्द्रियाँ सतेज एवं बलवान लेकिन संयत हो, मन कामना, रागद्वेष तथा संकल्पों से रहित हो, तथा बुद्धि अहंता ममता से रहित हो परमात्मा में निविष्ट हो। ऐसे मन, बुद्धि एवं इन्द्रियों वाला साधक अपने लक्ष्य को प्राप्त करता है, जिसे कठोपनिषद् में विष्णु-पद कहा गया है।

**विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः।**
**सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्॥**

श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार कामनाओं का परित्याग करने वाला जो व्यक्ति अहंता और ममता रहित होकर निस्पृह भाव से विचरण करता है वह शान्ति प्राप्त करता है।

विहाय कामान्यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥ २,७१.

इसी को ब्राह्मी स्थिति भी कहा गया है, और इसे प्राप्त करने वाला ज्ञानी स्थितप्रज्ञ कहलाता है। इस प्रकार यह रथ सांकेतिक रूप से गीता के मूल सन्देश, 'स्थित प्रज्ञ दर्शन' को प्रकट करता है।

### पार्थसारथी श्रीकृष्ण

उपर्युक्त वर्णन में हमारे गीता एवं कठोपनिषद् की सहायता से रथ के आध्यात्मिक महत्व को समझने का प्रयत्न किया हैं। लेकिन सारथी के स्थान पर भगवान श्रीकृष्ण की अवस्थिति समग्र चित्र को विशेष महत्व प्रदान करती है, जिसकी ओर स्वामी विवेकानन्द ने विशेष रूप से हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। श्रीकृष्ण विषादग्रस्त अर्जुन के रूप में चित्रित बद्धजीव का मार्गदर्शन कर रहे हैं। 'धर्मरथ' में कहा गया है कि 'ईस भजनु सारथी सुजाना' यदि हो तो कोई चिन्ता की बात नहीं है। जिस जीव के भगवान स्वयं सारथी हों, उसका तो फिर कहना ही क्या ?

भगवान के सारथी होने का एक और दृष्टि से महत्व है। भगवान् स्थितप्रज्ञ अथवा विष्णु-पद प्राप्त करने वाले योगी नहीं हैं। वे तो स्वयं विष्णु हैं। अतः

भगवान की अवस्थिति स्थितप्रज्ञ दर्शन से भी उच्चतर आदर्श की ओर इंगित करती है। स्थितप्रज्ञ अवस्था की प्राप्ति के बाद एक मुनि को बन्धन में पड़े अन्य जीवों को लक्ष्य की ओर जाने में सहायता करनी चाहिये। यही बात श्री·ामकृष्ण ने स्वामी विवेकानन्द को कही थी, जो निर्विकल्प समाधि में डूबे रहना चाहते थे। वे चाहते थे कि स्वामी जी एक विशाल वट-वृक्ष की तरह हों जो असंख्य पीड़ित एवं संतप्त नरनारियों को आश्रय प्रदान करे। यही भाव निम्नलिखित श्लोक में बड़े सुन्दर ढंग से व्यक्त हुआ है,

**दुर्जनः सज्जनो भूयात्सज्जनः शान्तिमाप्नुयात्।**
**शान्तो मुच्येत् बन्धेभ्यो मुक्तश्चान्यान्विमोचयेत्॥**

अर्थात् 'दुर्जन व्यक्ति सज्जन हो, सज्जन शान्ति प्राप्त करे। शान्त व्यक्ति बन्धन से मुक्त हो, और मुक्त अन्य लोगों को मुक्त करे।' चित्र में अर्जुन सज्जन का प्रतीक है और श्रीकृष्ण मुक्त के, जो उसे मोक्ष की ओर ले जा रहे हैं।

श्रीकृष्ण का वर्णन करते हुए स्वामीजी कहते हैं, "श्रीकृष्ण एक हाथ में चाबुक लिये और दूसरे हाथ से रास खींचे अर्जुन की ओर थोड़ा से मुड़ गये हैं—उनका शिशु सरल मुख अपार्थिव—स्वर्गीय प्रेम व सहानुभूति से दीप्त हो उठा है...."(वि. सा. खं. ८, पृ. २३८-२३९)

श्रीकृष्ण के चेहरे की पहली विशेषता है उसकी शिशु सुलभ सरलता। सामान्यतः जब व्यक्ति किशोरावस्था एवं यौवन में पदार्पण करता है, तब बाल्यकाल की उसकी सरलता समाप्त हो जाती है, लेकिन उसके स्थान पर समझ, तथा प्रौढ़ता आ जाती हैं। अधिक उम्र में सरलता और पौढ़ता एक साथ केवल आध्यात्मिक महापुरुषों में ही पायी जाती हैं। ज्ञानी एवं परमहंस 'बालवत्' कहे गये हैं। श्रीकृष्ण भी ऐसे ही एक 'ज्ञानी-बालक' थे जो यादव-राजकुमार, योद्धा, सेनानायक आदि की भूमिका निभाते हुए भी सदा वृन्दावन के क्रीड़ाप्रिय गोप-बाल ही बने रहे। उनके व्यक्तित्व की यह विशेषता उनके चेहरे और नेत्रों से राजदरबारों या रणक्षेत्र में, अत्यंत गंभीर परिस्थितियों के बीच भी प्रकट होती थी। अर्जुन के रणांगन में अचानक मुह्यमान हो जाने के विषम अवसर पर भी उनके चेहरे पर बाल-सुलभ हंसी खेल गयी थी, जिसका उल्लेख महाभारत-कार ने 'प्रहसन्निव' से किया है।

श्रीकृष्ण के मुख की दूसरी विशेषता यह है कि वह अपार्थिव प्रेम और सहानुभूति से दीप्त है। वस्तुतः एक बालक ही सच्ची सहानुभूति दिखा सकता है, क्योंकि उसका सरल-सहज मन संसार की कृत्रिमता से प्रभावित नहीं हुआ होता है, जो 'मुह में राम, बगल में छुरी' का पाठ सिखाती है। बालक अत्यन्त संवेदनशील होता है। यदि वह अपने किसी साथी बालक को रोता देखता है, तो वह भी रो पड़ता है, और इसके विपरीत एक रोता बालक अपने हंसते, खेलते-कूदते साथियों को देखकर शीघ्र प्रसन्न भी हो जाता है। ऐसा ही एक सुन्दर दृष्टान्त माँ सारदा के जीवन में पाया जाता है। एक मजदूरनी प्रायः माँ के घर, जयरामबाटी में सामानादि लाया करती थी। एक बार बहुत दिनों तक वह नहीं दिखाई दी। उसके बाद जब वह आयी तो माँ ने उसके इतने दिन न आने का कारण पूछा। इस पर वह बुढ़िया मजदूरनी रो पड़ी और कहने लगी कि कुछ दिन पूर्व ही उसके जवान लड़के की मृत्यु हो गयी थी। यह सुनना भर था कि माँ सारदा भी रो पड़ीं। दोनों वृद्धाएँ,—मजदूरनी एवं माँ सारदा-बहुत देर तक रोती रहीं। यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है, कि माँ की इस अकपट, स्वाभाविक संवेदनशीलता एवं सहानुभूति से वृद्धा को कितनी सांत्वना मिली होगी। लोगों के दुःखों को अनुभव करके सच्ची सहानुभूति द्वारा उनके दुःख के भार को लाघव करने की यह क्षमता श्रीरामकृष्ण में भी प्रचुर मात्रा में थी।

श्रीकृष्ण के मुख का तीसरा लक्षण है उसकी नील गगन की सी गंभीर शान्ति। शान्ति एवं गंभीरता बालक के साथ मेल नहीं खाते। वे स्वभाव से ही चंचल होते हैं। वस्तुतः बालक के लिए शान्त बैठना अत्यन्त कठिन

होता है। वे तो उन बन्दरों के समान हैं जो ध्यान करते दिखाई देते हैं पर भीतर अगले फल-बागान पर धावा करने की योजना बनाते रहते हैं। दीवार की ओर मुँह करके कमरे के कोने में चुपचाप बैठे रहना बालक के लिए सबसे बड़ा दंड है। लेकिन ज्ञानी इससे भिन्न होता है। उसमें सागर की सी उद्दाम लहरें भी दिखाई देती हैं, और वह सागर की तरह गहरा भी होता है। यही नहीं सागर जितना अधिक गहरा होता है, उसकी लहरें भी उतनी ही ऊँची उठती हैं। ज्ञानी में भी बाहर महान कर्मशीलता दिखाई देती है, पर भीतर गहरी शान्ति विराजा करती है। स्वामी विवेकानन्द के अनुसार गीता का मुख्य सन्देश भी यही है :

**कर्मण्य कर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः :**
**स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्न कर्मकृत् ॥**

(भ. गी. ४,१८)

अर्थात् 'कर्म करते हुए भी जिसका मन शान्त है और जब कोई बाह्य चेष्टा नहीं हो रही हो तब भी ब्रह्मचिन्तन रूपी महान कर्म की धारा सतत बह रही है—वही मनुष्यों में बुद्धिमान है, वही योगी है, वही कर्म-कुशल है।'

लेकिन जबकि सागर में निरंतर नदियाँ जल ढालती रहती हैं, पर वह अपनी सीमाओं का उल्लंघन न कर 'अचल-प्रतिष्ठ' बना रहता है, श्रीकृष्ण की करुणा सागरसम होते हुए भी अपने बाँध को लांघ कर अर्जुन की ओर प्रवाहित हो रही है। ऐसा लगता है मानो उनके हृदय में आनन्द व प्रेम का सागर लबालब भरा हुआ है। रहस्य यह है कि कामनाओं एवं विषय-संवेदनाओं का प्रवाह उनमें नदियों की तरह प्रवाहित होते हुए भी उन्हें किंचित मात्र भी विचलित नहीं कर पाता है, लेकिन उनके हृदय से प्रेम व करुणा के निर्झर निकल कर सारे संतप्त जगत पर शान्ति-वारि का वर्षण करते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ज्ञानी के स्वरूप को समझाने के जितने रूपक व्यवहृत हुए हैं, वे सभी अपूर्ण ही हैं। भगवान के स्वरूप की बात तो दूर ही रही। भगवान बालक के समान सरल हैं पर बालवत् चंचल नहीं। वे सागर की तरह शान्त हैं पर अपनी सीमाओं से बँधे नहीं। वस्तुतः भगवान का स्वरूप सदा ही अज्ञात् एवं रहस्यमय ही बना रहता है॥

# श्रीशंकराचार्य : जीवन तथा तत्त्वोपदेश

—स्वामी वागीश्वरानन्द
रामकृष्ण मठ, धन्तोली, नागपुर।

पद्मासीनं प्रशांतं यमनिरतमनंगारितुल्य प्रभावं
भाले भस्मांकिताभस्मित-रुचिरमुखांभोजमिंदीवराक्षम्।
कंबुग्रीवं कराभ्यामविहतविलसत्पुस्तकं ज्ञानमुद्रां
वंद्यं गीर्वाणमुख्यैर्नतजनवरदं भावये शंकरार्यम् ॥

सनातन धर्म के इतिहास का अवलोकन करने पर हमें यह बात स्पष्ट रूप से दिखाई देती है कि धर्म का प्रवाह कभी निरंतर अबाध गति से नहीं बहा करता। समय-समय पर उस पर अधर्म का तीव्र आक्रमण होने के कारण उसकी गति कुंठित सी हो जाती है, वह निस्तेज सा बन जाता है। परन्तु जब-जब धर्म पर ऐसा संकट आता है तब-तब करुणामय श्रीभगवान तत्कालीन परिस्थिति के अनुरूप किसी अवतार के रूप में आविर्भूत हो अधर्म का विनाश करते हैं और धर्म की पुनः प्रतिष्ठा करते हैं। उनके प्रभाव से सनातन धर्म का प्रवाह पुनः अबाध एवं स्वच्छंद गति से बहने लगता है और वह पूर्वकी अपेक्षा अधिक तेजस्वी, उपयोगी और व्यवहार्य

बनकर तीव्रता के साथ विपुल लोककल्याण-साधन करता है। धर्मग्लानि का स्वरूप प्रत्येक युग में अलग होता है—तदनुसार उसे नष्ट करनेवाले अवतार का स्वरूप—उसका जीवन तथा कार्य भी अलग होता है।

### जन्मकालीन परिस्थिति

आज से लगभग तेरह सौ वर्ष पूर्व की बात है। उस समय हमारे सनातन वैदिक धर्म की स्थिति बड़ी शोचनीय हो गयी थी। देश में सर्वत्र अनेक अवैदिक और आपातवैदिक मतमतान्तरों और पंथों-उपपंथों का साम्राज्य छा गया था। अपने वाक्चातुर्य एवं राजाश्रय के बल पर वेद-उपनिषदों का भोगवादपरक यथेच्छ अर्थ बताते हुए स्वमतांध, भोगपरायण, वैनाशिक संप्रदायों ने जनता के मन में धर्मसंबंधी महान् असमंजस और भ्रांति पैदा कर दी थी। धर्म के नाम पर अनाचार, दुराचार, अनीति फैल जाने के कारण यथार्थ मोक्षधर्म का मार्ग लुप्तप्राय हो गया था। संपूर्ण देश भ्रांत, अकर्मण्य, विकल, विमूढ़ दशा को प्राप्त हो, तेजी से रसातल में डूबने लगा था।

ऐसे घोर विपत्ति के समय भगवत्पूज्यपाद श्री मदाद्यशंकराचार्य धराधाम पर अवतीर्ण हुए और उन्होंने अपने लोकोत्तर दिव्य जीवन, वाणी तथा कृति से अज्ञान-जन्य धर्मग्लानि का नाश कर बुझती हुई वैदिक धर्म की ज्योति को पुनः प्रज्वलित किया। धार्मिक अराजकता को दूर कर उन्होंने देश में सर्वत्र वैदिक धर्म की यशोदुंदुभि निनादित की, चिरंतन अध्यात्म-विद्या की विजय पताका फहरायी तथा सत्यधर्म की पुनः प्रतिष्ठा की। इन लोकगुरु के कृपा-प्रसाद से, भारतभूमि आचार प्रधान अद्वैतज्ञानाधिष्ठित वैदिक धर्म के उज्वल प्रकाश से उद्भासित और आप्लावित हो उठी।

### जीवनचरित्र

आचार्य शंकर का जीवन अत्यंत अलौकिक है—अतिशय उद्बोधक है। उनका जीवनकाल ई० सन् ६८८ से ७२० ई० तक माना जाता है। बत्तीस वर्ष की अत्यल्प आयु में अपने अवतारकार्य की पूर्ति कर उन्होंने संसार से विदा ली। पर उनके लोक विलक्षण जीवन और कार्य का प्रभाव अध्यात्मजगत् में आजतक अक्षुण्ण है।

निम्न लिखित श्लोक में उनके जीवन का सुन्दर वर्णन मिलता है :—

अष्टवर्षे चतुर्वेदी द्वादशे सर्वशास्त्रवित्।
षोडशे कृतवान् भाष्यं द्वात्रिंशे मुनिरभ्यगात्॥

तदनुसार उनके जीवन के चार भाग किये जा सकते हैं :—

१. आविर्भाव से गृहत्याग तक (८ वर्ष)
२. गुरुप्राप्ति-साधना-सिद्धि (८ से १२ वर्ष)
३. भाष्यरचना और अध्यापन (१२ से १६ वर्ष)
४. धर्मसंस्थापना और प्रचार (१६ से ३२ वर्ष)

**आविर्भाव :**—केरल प्रांत में पूर्णा या अलवाई नदी के किनारे अवस्थित कालडी ग्राम में एक अत्यंत सदाचार सम्पन्न, धर्मपरायण, नंपूतिरि ब्राह्मण दम्पति के यहाँ श्रीशंकराचार्य ने जन्मग्रहण किया था। पिता शिवगुरु एवं माता विशिष्टा या आर्यांबा की दीर्घकाल एकनिष्ठ शिवाराधना के फलस्वरूप शिव की कृपा से यह पुत्र जन्मा; इस कारण इसका नाम शंकर रखा गया।

शैशवावस्था में ही अलौकिक बुद्धिमत्ता का परिचय देते हुए बालक लोगों को मुग्ध करने लगा। तीन से पाँच वर्ष की आयु के अन्दर उसने देवभाषा संस्कृत के असंख्य ग्रंथ आत्मसात् कर डाले। इसी समय पिता शिवगुरु का निधन हो गया।

**वेदाध्ययन :**—पाँचवें वर्ष माता ने बालक का उपनयन संस्कार कराया। पाँच से सात वर्ष की आयु में गुरुगृह में निवास करते हुए बालक ने वेदादि शास्त्रों का अध्ययन किया। सात वर्ष की आयु में अनेक शास्त्र पारंगत होकर बालक घर लौट आया और शास्त्र-अध्यापन करने लगा। उसके अगाध पांडित्य, अपूर्व विचारकौशल एवं मनोहारी अध्यापन शैली से आकर्षित

हो अनेक विख्यात विद्वान्-पंडित भी उसके पास शास्त्र-चर्चादि के लिए आने लगे।

परन्तु, बालक केवल शास्त्र-आमोदी नहीं था। शास्त्रनिहित सत्य की प्रत्यक्ष अनुभूति के बिना अध्ययन-अध्यापन, विद्या-बुद्धि-ख्याति सभी व्यर्थ हैं—यह बात वह जानता और मानता था। असार संसार के प्रति तीव्र विराग और परमसत्य के प्रति प्रबल अनुराग उसके मन में दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही जा रहा था। सत्यप्राप्ति की आकांक्षा की परिपूर्ति हेतु संसार त्यागकर संन्यास ग्रहण करके सत्यद्रष्टा ब्रह्मज्ञ गुरु के आश्रय में रहते हुए उनके उपदेशानुसार साधना करने का विचार उसे बेचैन किये जा रहा था। परन्तु माता उसे संन्यास ग्रहण की अनुमति देने को किसी हालत में तैयार नहीं थी। भला वह दुखिया माँ अपने इकलौते लाड़ले बालक को कैसे छोड़ सकती थी।

**मानस संन्यास** :—अंत में एक दिन परमेश्वर की अचिन्त्य योजना से एक अद्भुत् उपाय द्वारा इस वीतराग बालक की मनोभिलाषा पूर्ण हुई। एक दिन पूर्णा नदी में स्नान करते समय एक मगर ने बालक का पैर पकड़ लिया। बालक स्वयं को बचाने के लिए छटपटाने लगा, चिल्लाने लगा—पर व्यर्थ ! लोग जमा हो गये। आर्याम्बा भी आकर रोने-पीटने लगीं। ऐसे समय में अवसर देखकर शंकर ने माता से कहा—"माँ, मैं तो अब मरने चला। कम से कम अब तो तू मुझे संन्यास लेने की आज्ञा दे दे।" आतुर अवस्था में संन्यास-ग्रहण करने पर कभी-कभी आतुर व्यक्ति के प्राण बच जाते हैं—यह विश्वास हमारे देश में प्राचीनकाल से ही विद्यमान है। संन्यास ले लेने पर संभवतः पुत्र के प्राण बच जाएँ इस विचार से माता ने रोते हुए अनुमति दे दी। शंकर ने तत्काल जल से ही तीन बार **'संन्यस्तं मया'** का उच्चारण कर मानस संन्यास ग्रहण कर लिया। और आश्चर्य यह कि उसी क्षण मगर ने उसका पाँव छोड़ दिया।

शंकर जल से बाहर निकला, पर अब वह संन्यासी था। चूँकि यह आपत्संन्यास था, अतः उसके लिए अब योग्य गुरु के समीप जा शास्त्रोक्त विधिवत् संन्यास लेना एवं संन्यास-जीवन-यापन करना आवश्यक था। उसने सगे-सम्बन्धियों से कहकर अपनी माता के भरण-पोषण की व्यवस्था करवा दी तथा उसे "तेरे अंत समय में मैं तेरे पास आ उपस्थित होऊँगा" इस प्रकार आश्वासन देकर यह बालसंन्यासी गृह छोड़ योग्य गुरु की खोज में निकल पड़ा। माता का दिया हुआ आश्वासन उसने यथासमय पूरा किया था।

**अध्यात्मगुरुप्राप्ति, साधना एवं सिद्धि** :—गुरु-गृह में अध्ययन काल में शंकर ने सुन रखा था कि नर्मदाजी के तट पर किसी गुहा में अद्वैत ब्रह्मविद्या के महान आचार्य गौड़पाद के प्रधानशिष्य महायोगी गोविन्दपाद एक हजार वर्ष से समाधिमग्न हो विराजमान हैं। उसने मन ही मन इन्हीं को गुरु रूप में वरण कर लिया था। अब उनके दर्शन की शुभ घड़ी निकट आ गयी।

गुरुचरणों में सर्वस्व-समर्पण कर परमसत्य की उपलब्धि करने की व्याकुल आकांक्षा लिये यह आठ वर्ष का बालयति कितने ही अपरिचित ग्राम-नगर, नद-नदियों पर्वत-अरण्य और दुर्गम प्रदेशों को पार करता हुआ चलता रहा। अंत में—लगभग दो माह बाद—वह अपने बहुप्रतीक्षित लक्ष्यस्थल पर आ पहुँचा। नर्मदा तट पर ओंकारेश्वर में जिस गुहा में गोविन्दपादजी समाधिमग्न थे उसके सामने जा बालक भावतन्मय होकर स्तव करने लगा। उसके व्याकुल स्तव-प्रार्थनादि से योगिराज की समाधि भंग हुई। व्युत्थित होकर उन्होंने बालक को शिष्य के रूप में स्वीकारा तथा उसे विधिवत् संन्यास दीक्षा देकर वे अध्यात्मज्ञान का उपदेश देने लगे। ओंकारेश्वर में गुरु सान्निध्य मे तीन वर्ष रह कर शंकर ने विविध योगविद्याएँ आत्मसात् कर लीं और गुरुनिर्दिष्ट मार्ग के अनुसार साधना करते हुए निर्विकल्प समाधिरूप चरम सिद्धि प्राप्त कर वह धन्य हो गया। उसका जीवन कृतार्थ हो गया।

गुरु गोविंदयति को ज्ञात था कि यह बालक साक्षात् शिवावतार है तथा इसका आविर्भाव वैदिक धर्म की

संस्थापना के लिए हुआ है। अतः अब उन्होंने उसे काशीधाम जाकर धर्म प्रचार कार्य आरंभ करने का आदेश दिया।

**काशीधाम में कार्यारंभ** :—गुरु का आदेश शिरोधार्य कर बारह वर्ष के किशोर संन्यासी शंकराचार्य अविमुक्त-पुरी काशी पधारे और मणिकर्णिका घाट पर वास करते हुए शास्त्र-अध्यापन, धर्मोपदेशप्रदान, प्रवचन आदि करने लगे। यहाँ उनके ब्रह्मावगाही ध्यानप्रवण मन में एक अपूर्व भावान्तर आ उपस्थित हुआ और वे अपने पास आनेवाले असंख्य सत्याकांक्षी, मुमुक्षु साधकों पर कृपा-वारि बरसाते हुए उनके जीवन को धन्य करने लगे।

यहाँ उन्हें श्रीविश्वनाथ और अन्नपूर्णा-माता के दिव्य दर्शन हुए। यहीं पर उन्हें महेश्वर ने उनका अवतार-प्रयोजन बताया और ब्रह्मसूत्र पर भाष्यरचना एवं अद्वैत ब्रह्मविद्या का प्रचार करने का आदेश दिया।

**बदरिकाश्रम में ग्रंथरचना** :—शिवाज्ञा से प्रेरित हो आचार्य शंकर बदरिकाश्रम आये और व्यासतीर्थ में रहते हुए भाष्यरचना आरंभ की। उन्होंने 'उपनिषद्', 'भगवद् गीता' एवं 'ब्रह्मसूत्र' रूप प्रस्थानत्रयी पर अत्यंत गहन-गंभीर तर्काधिष्ठित, विचारपूर्ण भाष्य रचे। इनके अतिरिक्त उन्होंने और भी कुछ ग्रंथों की रचना की। इस समय भी उनका अध्यापन-कार्य जारी ही था। यहाँ उन्हें अपने परमगुरु गौडपादाचार्य के दर्शन और आशीर्वादादि प्राप्त हुए।

भाष्यरचना पूरी होने तक आचार्य शंकर की आयु सोलह वर्ष की हो चुकी थी। उनके लिए अप्राप्त या प्राप्तव्य तो कुछ था नहीं। अतः उनके मन में देह त्याग देने की प्रबल इच्छा उठने लगी। परंतु अभी भी उनका अवतारकार्य समाप्त नहीं हुआ था। भगवान् व्यासदेव ने उनके सम्मुख प्रकट होकर कहा कि 'वत्स, जिस दिव्य कार्य के लिए तुम्हारा अवतरण है उसकी पूर्ति के लिए तुम्हें और सोलह वर्ष धराधाम पर रहना होगा। अब तुम्हें भारत के विभिन्न प्रांतों में परिभ्रमण करते हुए अवैदिक भ्रांत मतवादों का निराकरण एवं वैदिक अद्वैत सिद्धांत की प्रतिष्ठापना करनी होगी। जाओ अपनी दिग्विजययात्रा प्रारंभ कर दो।"

**दिग्विजय यात्रा** :—व्यासदेव के आदेश से आचार्य के जीवन का एक नवीन पर्व आरंभ हुआ। उन्होंने आसेतुहिमाचल सर्वत्र संचरण करते हुए दुराग्रही, स्वमतांध, आपात-धार्मिक मतावलंबियों की भ्रांत धारणा का उन्मूलन किया। श्रुति-युक्ति-अनुभूति पर अधिष्ठित शास्त्रार्थ विचार या वाद के द्वारा उन्होने अगणित परस्पर-विद्वेषी संप्रदायों का मिथ्या अभिनिवेश दूर करते हुए उन्हें सत्यधर्म के ज्ञानालोक से उद्भासित कर दिया। वाद, चर्चा, प्रवचनादि के माध्यम से उन्होंने सर्वत्र ज्ञान का प्रचार किया—भ्रम-अज्ञान का अंधकार निरस्त किया। उनके साथ गृही, संन्यासी, राजा आदि विविध स्तरों के शिष्यों का विराट् संप्रदाय भी था जो उनके इस कार्य में सहायता करने के लिए सदैव तत्पर रहता था। इस ज्ञानगंगा के प्रचंड प्रवाह ने ग्राम-ग्राम, नगर-नगर सर्वत्र प्रवाहित होते हुए जनता को ज्ञान-परिप्लुत कर डाला।

भारत की धर्मसंपदा के केन्द्रस्वरूप तीर्थक्षेत्रों में जा, वहाँ धर्म के नाम पर जो पाखंडी लोग अड्डा जमाये बैठे थे, उन्हें परास्त करते हुए उन्होंने तीर्थों की महिमा पुनरुज्जीवित की। स्थान-स्थान पर नये देवालय बनवाए। प्राचीन देवालयों का जीर्णोद्धार किया।

मंदिरप्रतिष्ठा, पंचदेवता की उपासना, विविध देवीदेवता-विषयक भक्तिरसप्लुत स्तोत्ररचना आदि के द्वारा उन्होंने सामान्य जनता को सर्वोच्च आध्यात्मिक अनुभूति तक पहुँचने में अत्यंत सहायता की। उन्होंने यह दर्शाया कि इन विविध देवताओं की उपासनाएँ ब्रह्मोपासना की उपजीवक हैं, अतः वे वैदिक सत्यधर्म की ही अंगभूत हैं। विभिन्न धर्मसंप्रदायों को एक उदार सार्वभौम सनातन धर्म की आधारशिला पर प्रतिष्ठित कर उन्होंने उनका परस्पर-द्वेषभाव दूर किया। 'एक ही विराट् वैदिक धर्म के हम सब अनुयायी हैं' यह भाव

अनुभव कराकर उन्होंने उनमें एकता और प्रीति स्थापित की। अनेक संप्रदायों में विभक्त भारत की खंडित शक्ति पुनः एकीभूत हुई—इसी एकता के बल पर बाद में अत्यंत आक्रामक इस्लाम के प्रबल आक्रमण के बावजूद हमारा सनातन धर्म टिका रह सका।

**मठस्थापना :**—कितने व्यवहारकुशल और दूरदर्शी थे वे! वैदिक धर्म का देश के कोने-कोने में प्रचार करके ही वे विरत नहीं हुए, उसे स्थायी रूप से प्रतिष्ठित करने के लिए, उसके प्रभाव को दीर्घकाल तक अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए, उन्होंने भारत की चार दिशाओं में—पुरी, द्वारका, बदरीनाथ और शृंगेरी—चार मठ स्थापित किये और समूचे भारत को इन चार मठों के अधिकार क्षेत्र में लाया। इन मठों में उन्होने अपने चार प्रधान शिष्यों—पद्मपाद, हस्तामलक, तोटकाचार्य और सुरेश्वर—का मठाधीश के रूप में नियुक्त किया। मठों की सुव्यवस्था, योग्य परिचालना के लिए उन्होंने स्वयं विधिनियम बना दिये जो 'मठाम्नायः' या 'मठानुशासन' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इसके अलावा उन्होंने कांची में कामकोटिपीठ की स्थापना की और उसकी परिचालना का भार स्वयं ग्रहण किया। इस तरह अविश्रान्त, अक्लान्त, परिश्रमपूर्वक वैदिक धर्म का साम्राज्य स्थापित कर और उसकी सुरक्षा का उत्तम प्रबंध कर आचार्य निश्चिंत हुए।

**निर्वाण :**—अब उनकी आयु के इकतीस वर्ष पूर्ण हो चुके थे। उनका अवतारकार्य, उनके आविर्भाव का प्रयोजन पूरा हो गया था। सब प्रकार के उत्तरदायित्व से मुक्त हो उन्होंने देवतात्मा हिमालय की ओर प्रयाण किया। साथ में कुछ शिष्य भी थे। अब वे अधिकांश समय अंतर्मुख, ध्यानमग्न ही रहने लगे। बदरीनारायण आकर उन्होंने अत्यंत भावविह्वल हो एक प्रदीर्घ भावगंभीर स्तोत्र द्वारा श्रीहरि की स्तुति की। यह स्तोत्र 'हरिस्तुति' के नाम से प्रसिद्ध है। (इसमें अत्युच्च अद्वैत ज्ञान के साथ सुमधुर भक्तिभाव का अपूर्व संगम दिखाई देता है। इसके प्रत्येक श्लोक के अन्त में आता है—'तं संसारध्वान्तविनाशं हरिमीडे' अर्थात् 'उस संसाररूपी अंधकार का विनाश करनेवाले हरि की मैं स्तुति करता हूँ।') यही आचार्यप्रणीत अंतिम स्तोत्र माना जाता है।

अब आचार्य केदारनाथ आये। इस पुण्यक्षेत्र के तपोगंभीर वातावरण में आचार्य की ध्यानतन्मयता अत्यधिक बढ़ गयी। उनका ब्रह्मावगाही मन अगाध ब्रह्मवारिधि के स्तरों को भेदता हुआ प्रबल वेग से तलप्रदेश की ओर जाने लगा। अन्त में एक दिन (सन् ७२० ई० की वैशाख शुक्ल एकादशी या मतान्तर से पूर्णिमा) अपने प्रिय शिष्यों को निकट बुलाकर विपुल आशीर्वाद और उपदेश-निर्देश देने के बाद आचार्य ने मौन धारण कर लिया और निर्विकल्प समाधि में स्थित हो आत्मस्वरूप में पूर्ण विलीन हो गये। आत्मज्योति ब्रह्मज्योति में समा गयी।

(शेषांश अगले अंक में)

---

'त्याग के बाद ज्ञान। ज्ञान लेकर आये शङ्कर। शिशु, किन्तु पूर्ण ज्ञानी। गुरु जिज्ञासा करते हैं—'तुम कौन हो, कहाँ से आये हो, कहाँ जाओगे?' बालक शिष्य उत्तर देता है—'ॐ मनो बुद्ध्यहंकारचित्तानि नाहं न च श्रोत्रजिह्वे न च घ्राण नेत्रे।

न च व्योमभूमिर्न च तेजोवायुश्चिदानन्दरूपः शिवोऽहम् शिवोऽहम्॥ आदि।'' (अर्थात्, मैं मन, बुद्धि अहंकार और चित्त नहीं हूँ। मैं न कान हूँ न जीभ, न नाक हूँ न आँख। मैं अकाश नहीं हूँ, न धरती हूँ, न आग हूँ, न वायु। मैं चिदानन्दरूप हूँ। मैं शिव हूँ, मैं शिव हूँ।)

— स्वामी प्रेमानन्द।

# साधना और छल

—स्वामी यतीश्वरानन्द
अनुवादक—स्वामी ब्रह्मेशानन्द
रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, वाराणसी

श्रीरामकृष्ण का कथन है, 'मन-मुख एक करो।' इसका क्या अर्थ है ? उनके कथन का तात्पर्य यह है कि व्यक्ति को पूरी तरह ईमानदार होना चाहिए। दूसरों के प्रति सच्चे व ईमानदार होना आसान है, पर स्वयं के प्रति ईमानदार होना बहुत कठिन है। प्रार्थना करते समय हम कहते हैं-"प्रभु तुम मेरे स्वामी हो, मैं दास हूँ," पर हमारी करनी कथनी के अनुसार नहीं होती। हम पाखंडी हो गये हैं और दूसरों पर रौब जमाते फिरते हैं। सच्चा व्यक्ति दूसरों के दोष नहीं देख सकता। दूसरों के दोष देखने वालों का मन मलीन होता है। यदि हम ईमानदारी से अपने मन का विश्लेषण करें तो उसमें अनेक दुर्गुण छिपे पायेंगे। इन दोषों को दूर करने मे हमारी सारी शक्ति व समय भी पर्याप्त नहीं होगा और तब दूसरों के दोष-दर्शन का हमें समय ही नहीं मिलेगा। अतः स्वयं को हीन या श्रेष्ठ समझने की कोई आवश्कता नहीं है। सभी की एक ही गति है।

हमारा प्रत्येक कथन और विचार परमात्मा जानता है। मन-मुख एक न होने पर हम अपने को ही धोखा देते हैं। कुछ लोग बड़े यत्न पूर्वक आँखों में आँसू भर लाते हैं और बड़े भक्त होने का दिखावा करते हैं। वे ध्यान व जप इस रीति से करते हैं कि लोग उन्हें महान भक्त समझें। यह भी पाखण्ड है और बहुत हानिकारक है।

कुछ साधु "अहं ब्रह्मास्मि, तत्वमसि" आदि का जप करते हैं, किन्तु विलासिता का जीवन बिताते हैं। आध्यात्मिक सत्यों की चर्चा करने पर उनके अनुरूप जीवन न बिताना पाखण्ड है। हम चाहते हैं कि लोग हमें बड़ा भक्त समझें। इससे हमारा क्या लाभ होता है भला ? आन्तरिक परिवर्तन तथा आध्यात्मिक विकास होना चाहिए। अतः साधना परमावश्यक है। इससे हमें सत्य समझने की शक्ति प्राप्त होती है। प्रभु से प्रार्थना करो कि वे हमारी बुद्धि को सन्मार्ग की ओर प्रेरित करें तथा हमारी चेतना को जाग्रत करें, जैसा कि वैदिक मंत्र में कहा गया है : "धियो यो नः प्रचोदयात्" स्वामी विवेकानन्द ने कहा है : 'धर्म-पथ पर अग्रसर होने वालों में से ८०% पाखण्डी हैं तथा १५% प्रतिशत मानसिक सन्तुलन खोकर पागल हो जाते हैं। केवल ५% प्रतिशत ही सफल होते हैं।" कई लोग धर्म मार्ग में आते हैं पर वे अन्त तक टिक नहीं पाते।

हम चाहते हैं कि प्रभु हमारी छोटी-मोटी इच्छाएँ पूरी करें। हम सचमुच प्रभु को उनके ही लिए नहीं चाहते। अमेरिका में हिमपात सामान्यतः पौधों तथा फूलों की क्यारियों की रक्षा करता है। एक छोटी बच्ची ने भगवान से प्रार्थना की कि वे पौधों के लिए रात को हिमपात करें। दूसरे दिन सबेरे सो कर उठने पर जब उसने सबकुछ बर्फ से ढंका देखा तो वह आनन्दित हो उठी। तब उसने मन ही मन कहा: "आहा, मैंने भगवान को कैसा बुद्धू बनाया। मैं तो अपने बनाये छोटे से घर के लिए हिम चाहती थी।" क्या सचमुच भगवान ने धोखा खाया था ? राम भजो ! इसी तरह जब हम कोई बहाना बनाते हैं तब अपने आप को ही धोखा देते, और अपनी ही आध्यात्मिक क्षति करते हैं। कोई अनुचित कार्य करने पर उसे उचित सिद्ध करने के लिए हम अनेक बहाने बनाते हैं। अपनी गलती स्वीकार करने के

लिए हम तैयार नहीं होते। इस प्रकार हम आत्मप्रवंचना करते हैं। जाग्रतावस्था में हम पाखण्ड और आत्म-प्रवंचना करते हैं और स्वप्नावस्था में भी यही करते हैं। गहरी निद्रा में आत्मप्रवंचना नहीं है, पर उस अवस्था में आत्मचेतना ही नहीं रहती। जागने पर पूर्वस्मृतियाँ पुनर्जाग्रत हो जाती हैं और हम जहाँ के तहाँ बने रहते हैं। इस प्रकार हम सदा छल के शिकार होते रहते हैं। हमने संसार मे दुःख की सृष्टि इसी तरह की है, और ऊपर से शिकायत करते हैं कि हम सुखी नहीं हैं। यही नहीं, हम भगवान और धर्म तक को अपने दुःखों के लिए दोषी ठहराते हैं।

मन ही हमारा सबसे बड़ा शत्रु है। वह किसी भी समय हमें धोखा दे सकता है। मन का विश्लेषण करने पर हम अपने गलत कार्यों के अनेक कारण पा सकते हैं। लेकिन जब हम अपने दोष नहीं देख पाते, तब दूसरों को दोष देते हैं। इस विषय में हमें बहुत अधिक सावधान रहना चाहिए। निष्पक्ष और सच्चा आत्मविश्लेषण बहुत आवश्यक है।

अशुभ विचारों को मन से कैसे दूर करें ? यह सभी की समस्या है। अशुभ विचार आते हैं और जाते हैं। उनको महत्व मत दो। शुभ-चिन्तन के अभ्यास से अशुभ विचारों को दूर रखा जा सकता है। अभ्यास द्वारा मन को उच्चतर स्तर पर विचरण करने के लिए बाध्य करना चाहिए।

जप और ध्यान हमारी इच्छा शक्ति को प्रबल और मन को उत्तरोत्तर शुद्ध बनाते हैं। जप का अभ्यास बहुत नियम पूर्वक तथा निष्ठा के साथ करना चाहिए। यदि जप नीरस लगे तो भी उसे न छोड़ो। यकृत् (Liver) बिगड़ जाने पर पित्त नहीं बनता और भूख नहीं लगती। रोगी बिना खाये धीरे-धीरे मर जाता है। ऐसे में शरीर को जीवित रखने के लिए थोड़ा-थोड़ा खाना देते रहना पड़ता है। धर्म जीवन में भी यही बात है। भगवन्नाम के जप में मन न लगे तो भी अभ्यास पूरी तरह छोड़ नहीं देना चाहिए। इससे अशुभ विचार अपनी जड़ें जमा लेंगे और परिणाम होगा आध्यात्मिक मृत्यु। श्रीरामकृष्ण (सांसारिक लोगों के भाव में) अफसोस के साथ कहा करते थे, "यह कैसा सन्निपात का रोग लगा है माँ, कि तुम्हारा नाम भी मुझे नहीं सुहाता।"

एक सूफी सन्त ने कहा है, "यदि शैतान को देखना हो तो अपने भीतर देखो।" हम सभी में शैतान है। हमें चाहिए कि ईमानदारी से अपने दोष स्वीकार करें। हममें से अधिकांश बाहर सन्त होने का गर्व और दिखावा करते हैं, जबकि शैतान हमारे भीतर छिपा रहता है। यह छल है और इसका परिणाम दुःख होता है। सौभाग्य से ईष्ट भी हमारे हृदय में ही हैं, और उनके एक बार जागने पर वे शैतान को बाहर निकाल देंगे।

हम बुरे विचारों में रुचि रखते हैं, इसलिए वे मन में उठते हैं। यह बात सत्य है, पर हम इसे स्वीकार नहीं करना चाहते। आधा मन अशुभ और आधा मन शुभ विचारों को चाहता है। हमें सदा सजग रहना चाहिए और यदि अशुभ विचार आये तो उन्हें दृढ़ता से कह देना चाहिए कि हम उन्हें नहीं चाहते।

मन को कभी खाली मत रहने दो। यदि मन खाली रहा तो स्वभावतः अपवित्र विचार मन के रिक्त स्थान को भर देंगे। अतः मन को सदा शुभ विचारों से भरे रखो। धर्म-ग्रन्थों का पाठ अथवा स्तोत्रादि की आवृत्ति द्वारा यह किया जा सकता है।

पतंजलि ने 'चित्त-वृत्ति-निरोध' को योग कहा है। इस परिभाषा को पढ़कर कुछ लोग समझते हैं कि योग मन की शून्यावस्था है। यहाँ वस्तुतः किसी शून्यावस्था की चर्चा नहीं है, बल्कि मनातीत अवस्था का वर्णन है जो शुभ और अशुभ दोनों से परे है। इसे पाने के लिए बहुत वर्षों तक शुभ चिन्तन करना होता है।

### शुभ चिन्तन

जब मन निम्न चक्रों में विचरण करता है तब अपवित्र इच्छाएँ पैदा होती हैं। हृदय चक्र से धर्म का आरंभ होता है। यदि मन को पवित्र तथा उदात्त विषयों

में व्यस्त रखा जाय तो मन हृदय तथा ऊपरी चक्रों पर उठ आता है। अशुभ विचारों के स्थान पर शुभ विचारों को लाना चाहिए। अतः तुलसीदास ने कहा है:

भक्ति प्रयच्छ रघुपुंगव निर्भरा मे।
कामादि दोष रहितं कुरु मानसं च॥

अर्थात्, प्रभु, मुझे निर्भरा-भक्ति प्रदान करो तथा कामादि दोषों से मेरे मन को रिक्त कर दो। मन को भगवद्भक्ति से परिपूर्ण करने से वासनाओं को दूर किया जा सकता है। यह समय-साध्य है पर यही एकमात्र उपाय है। यहाँ कोई लघु-मार्ग संभव नहीं। आध्यात्मिक जीवन में ताबीज काम नहीं करते। एकाग्रता के बिना कोई भी संसार में जी नहीं सकता। इस एकाग्रता को नया मोड़ प्रदान करो।

सारे दिन एक आध्यात्मिक भाव बनाये रखना चाहिए। यह आवश्यक नहीं कि कोई इसे जाने। हम शान्ति व धैर्य के साथ अपना उच्चतर मनोभाव बिना किसी बाहरी दिखावे के सदा बनाये रख सकते हैं।

हम अपने विचारों तथा कार्यों से बाध्य हैं। हम विचार किये बिना नहीं रह सकते तथा एक क्षण भी उन्हें रोक नहीं सकते। कुछ लोगों की धारणा है कि योग का उद्देश्य बलपूर्वक मन की क्रियाओं को रोक कर उसे विचारशून्य करना है। मन को शून्य करना बुद्धिमानी नहीं है। मन को उदात्त कर शुभ तथा पवित्र विचारों से भर देना चाहिए। लेकिन शास्त्रों में वर्णित शून्य मूल्यवान है। वह ऐसा शून्य है जहाँ सभी नाम और रूप अपने कारण स्वरूप अर्थात शुद्ध ब्रह्म-चैतन्य में लीन हो जाते हैं। सामान्यतः शून्य पैदा करने की कोशिश निद्रा को बुलावा देती है। तुम आसन पर ठीक ढंग से बैठे हुए ही गहरी निद्रा में निमग्न हो जाओगे। यह ठीक नहीं है।

---
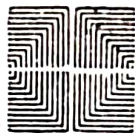
जिनके मन-प्राण-अन्तरात्मा ईश्वर में लीन हो गये हैं, वे ही साधु हैं। वे कामिनी-कांचन के किसी रूप में आसक्त होकर नहीं रहेंगे। जो साधु हैं वे स्त्रियों को ऐहिक दृष्टि से नहीं देखते। यदि नारियों के समीप आते हैं तो उन्हें मातृवत् देखते हैं और उनकी पूजा करते हैं। सच्चे त्यागी साधु अर्थ, यश कुछ नहीं चाहते। साधु सर्वदा ईश्वर-चिन्तन करते हैं। ईश्वर की कथा छोड़कर दूसरी बात नहीं करते और सभी जीवों में ईश्वर हैं, ऐसा जानकर उनकी सेवा करते हैं। मोटे तौर पर ये ही साधु के लक्षण हैं।

—श्री श्रीरामकृष्ण देव।

# नारद-भक्ति-सूत्र

—श्रीमत स्वामी वेदान्तानन्द
सचिव, रामकृष्ण मिशन आश्रम, पटना।

## पञ्चम अनुवाक

### प्रेमाभक्ति के साधन एवं सत्सङ्ग—माहात्म्य

**तस्याः साधनानि गायन्त्याचार्याः ॥३४॥**

आचार्याः (आचार्यगण) तस्याः (उस प्रेमाभक्ति के) साधनानि (साधन समूह, प्राप्ति के उपाय समूह) गायन्ति (गाते हैं—वर्णन करते हैं) ॥३४

आचार्यगण प्रेमरूपा भक्ति की प्राप्ति के उपायों का वर्णन करते हैं ॥३४

भक्ति होती है साध्यवस्तु। उसको प्राप्त करने के विविध उपाय हैं। उपायों में कुछ विधि और कुछ निषेध हैं। लक्ष्य पर पहुँचने के लिए पथ की बाधाओं को दूर करना या त्यागना होता है और फिर लक्ष्य की ओर अग्रसर होना होता है। यथेपयुक्त उपायों का अवलम्बन करने से इष्ट का साक्षात्कार करना सुगम होता है। अपरा भक्ति या वैधी भक्ति क्या है? ईश्वर के प्रति प्रेम उत्पन्न करने के लिए ये विविध विधि-निषेध-मूलक उपाय हैं। वैधी भक्ति के साधन देश-काल-पात्र के भेद से भिन्न-भिन्न होते हैं।

इष्ट-लाभ से जो लोग धन्य हुए हैं—वस्तुलाभ के बाद भी जो लोग संसारी जीवों के प्रति करुणापरवश होकर लोक-शिक्षा के लिए संसार में विचरण करते हैं, वे ही यथार्थ आचार्य हैं। उन सब ने पात्र के भेद से तत्व की प्राप्ति के विविध उपायों का वर्णन किया है।

"जिसे संसार की अनित्यता का बोध नहीं हुआ, उससे उपदेश लेना उचित नहीं है।.....जो केवल पंडित हैं, उनकी बातों में गोलमाल रहता है।

लोकशिक्षा देना बहुत कठिन है। वे (ईश्वर) यदि प्रकट होकर आदेश दें, तभी हो पाता है। आदेश नहीं होने पर कौन तुम्हारी बात सुनेगा? नारद, शुकदेव, शङ्कर आदि को आदेश हुआ था।... भगवान-लाभ होने पर अन्तर्दृष्टि होती है, किसको क्या रोग है, यह जाना जाता है, तब ठीक-ठीक उपदेश दिया जाता है।

पुस्तक पढ़ने से क्या ज्ञान होता है? जिसने आदेश पाया है, उसके ज्ञान का अन्त नहीं है। जो ज्ञान ईश्वर की ओर से आता है, वह समाप्त नहीं होता।"

"एक दिन पंचवटी की बगल से जाते-जाते सुना, एक ढाबुस मेढ़क खूब जोरों से टर्रा रहा है। मन में हुआ कि साँप ने पकड़ लिया है। कुछ देर के बाद जब लौटकर आ रहा हूँ, तब सुनता हूँ, मेढ़क काफी टर्रा रहा है। उझककर देखा, एक ढोंर साँप मेढ़क को पकड़े हुए है—निगल भी नहीं पाता, छोड़ भी नहीं पाता। तब सोचा, उसे यदि गेहुँअन साँप पकड़ता तो तीन बार टर्राने के बाद मेढ़क चुप हो जाता। ढोंर साँप पकड़े हुए है न, इसी से दोनों को पीड़ा है। यदि सद्गुरु हो तो जीव का अहंकार तीन बार की टर्राहट में ही समाप्त हो जाय। गुरु के कच्चा होने पर गुरु को भी पीड़ा, शिष्य को भी पीड़ा। शिष्य का अहंकार मिटता नहीं, संसार-बन्धन कटता नहीं!"

**तत्तु विषयत्यागात् सङ्गत्यागाच्च ॥३५॥**

तत् (वह प्रेमोपलब्धि) तु (किन्तु) विषय त्यागात् (विषयो का त्याग होने से) च (एवं) सङ्ग त्यागात् (आसक्ति का त्याग होने से) [होती है] ॥३५

विषय-त्याग और आसक्ति-त्याग होने पर उस प्रेम की प्राप्ति होती है ॥३५

इन्द्रिय-भोग जिन सब विषयों को पाने के लिए लोलुप होकर मन इष्ट से विमुख होता है, वे सब विषय होते हैं साधन पथ की प्रबल बाधा। या तो विषय को दूर हटाना पड़ता है, या उन सब से स्वयं दूर हट जाना पड़ता है। किन्तु विषयों से दूर हट जाने पर ही तो मन से विषय नहीं चला जाता—सब कुछ भूलकर मन इष्ट के प्रेम में मग्न नहीं हो जाता ! इन्द्रिय-ग्राह्य वस्तुओं को सत्य, नित्य एवं सुखप्रद मानने की जो भ्रान्त धारणा है, उस धारणा का नाश होना चाहिए। विषय को मिथ्या जान लेने पर ही, इष्ट की विस्मृति का जो कारण विषयासक्ति है, उसका अपने आप त्याग हो जाता है।

साधन की प्रथम अवस्था में त्याग चाहिए—कामिनी-काञ्चन का त्याग। और यह त्याग सहज होना चाहिए। जोर देकर विषय-त्याग किया जा सकता है, किन्तु तुच्छ विषयानन्द के प्रति स्वाभाविक विराग नहीं आने पर, आसक्ति का त्याग नहीं होता। साधना के समय विषय से हटकर रहने की आवश्यकता हैं।

"त्याग की जरूरत हैं। एक वस्तु के बाद यदि और एक वस्तु है, तब ही प्रथम वस्तु को पाने पर उस वस्तु को हटाना होगा। एक को नहीं हटाने पर दूसरी वस्तु कैसे पायी जायगी ? उन्हें सर्वमय देखने पर संसार-फंसार और कुछ नहीं देखा जाता। त्याग नहीं होने पर ईश्वर को नहीं पाया जा सकता।"

"त्याग करना होगा, पुरुषकार के लिए ईश्वर से प्रार्थना करनी होगी। जो वस्तु मिथ्या प्रतीत हो उसका तत्क्षण त्याग। ऋषियों को यही पुरुषकार था। उन सब ने इसी पुरुषकार के द्वारा इन्द्रियजय की थी। कछुआ यदि अपने हाथ-पैर भीतर कर ले, तो उसे चार टुकड़े काटने पर भी वह हाथ पैर बाहर नहीं करेगा। कामिनी-काञ्चन का त्याग नहीं होने पर, नहीं होगा। त्याग होने पर तभी अविद्या अज्ञान का नाश होगा।"

"थोड़ी भी कामना रहने पर भगवान को नहीं पाया जा सकता। हल्की गाँठ रहने पर भी सुई के भीतर धागा नहीं जाता। मन जब वासना-रहित होता है, शुद्ध होता है, तभी सच्चिदानन्द का लाभ होता है।

"जब तक विषयासक्ति रहती है, कामिनी कांचन में प्रीति रहती, तब तक देह-बुद्धि नहीं जाती। जब देखोगे, ईश्वर का नाम लेते ही अश्रुपात और पुलक होती है, तब समझना कि कामिनी-कांचन से आसक्ति चली गयी है, ईश्वर-लाभ हो गया है। जैसे सूखी दिया-सलाई—एक बार घसते ही दप से जल उठती है। और भींगी होने पर घिसते-घिसते तीली के टूट जाने पर भी नहीं जलती, केवल ढेर तीलियों का नुकसान हो जाता है। विषय-बुद्धि का लेश-मात्र भी रहने पर उनका दर्शन नहीं होता, ईश्वर का उद्दीपन नहीं होता। विषय रस के सूख जाने पर तुरंत उद्दीपन होता हैं।"

"भोग के रहने पर ही योग कम हो जाता है। भोग के रहने पर ही फिर ज्वाला। भोग का त्याग हो जाने पर ही शान्ति। जहाँ भोग है वहीं भावना और चिन्ता है।"......

भगवान उद्धव से कहते हैं—

**विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते।**
**मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते ॥**
**तस्मादसदभिध्यानं यथा स्वप्नमनोरथम्।**
**हित्वा मयि समाधत्स्व मनो मद्भाव भावितम् ॥**

भा० ११।१४।२७-२८

'विषय का चिन्तन करने पर मन विषय में आसक्त हो जाता है, और मेरा चिन्तन करने के फलस्वरूप मन मुझमें लीन होता है। मेरे प्रति भक्ति से रहित अन्य सारे साधन और उनके फल स्वप्न या मनः कल्पित विषयों की तरह मिथ्या हैं। इन सारी असत वस्तुओं का चिन्तन-त्याग कर मेरे भाव से भावित होओ तथा मुझमें मन को समाहित करो।'

"मन और मुख को एक करना ही होता है साधन। नहीं तो, मुख से कहता हूँ—हे भगवान, तुम मेरे सर्वस्व धन हो, और मन में विषय को ही सर्वस्व जान कर बैठा रहता हूँ, ऐसे लोगों की साधना ही विफल होती है।"

श्रीरामकृष्ण थे त्यागियों के शिरोमणि। उन्होंने अपने जीवन में आचरण कर त्याग का जो आदर्श

दिखाया है वह चिरकाल तक साधकों के लिए अनुसरणीय बना रहेगा। उनके जीवन में त्याग ऐसा स्वाभाविक हो गया था कि विषय का संस्पर्श मात्र वे सहन नहीं कर पाते थे। उनकी परीक्षा लेने के लिए श्रीनरेन्द्र नाथ (स्वामी विवेकानन्द) ने उनके बिछावन के तले छिपाकर एक रुपया रख दिया। सोने के लिए जाने पर वे छट्-पट् कर उठ गये, मानो उनके शरीर में सिंगी मछली ने काँटा चुभा दिया हो।

उनके पेट को बीमारी के कारण थोड़ी-थोड़ी अफीम खाने की राय देकर शम्भु मल्लिक ने उन्हें थोड़ी अफीम दी। उसे धोती की खूँट में बाँधकर कालीबाड़ी लौटने के समय वे रास्ता ढूँढ नहीं पाते थे। अफीम लौटा देने पर ही वे कालीबाड़ी लौटे।

उनके बिछावन की चादर मैली देखकर लक्ष्मी नारायण मारवाड़ी ने उनकी सेवा के लिए उनके नाम से बैंक में दस हजार रुपया जमा कर देना चाहा। यह बात सुनकर मानो उनके माथे पर वज्रपात हो गया।

माथुर बाबू ने उनके नाम पर एक तालुक लिख देने का परामर्श चुपचाप किसी के साथ किया। उन्होंने माथुर बाबू को जो-सो कहकर भर्त्सना की।

केवल बाहर से विषय-त्याग करने से, विषय से दूर रहने से ही यथेष्ट नहीं हुआ। मन में विषय-वासना का यदि उदय नहीं हो तभी यथार्थ त्याग होगा।

श्री भगवान कहते हैं—

**कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।**
**इन्द्रियार्थान् विमूढ़ात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥**
**यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुनः**
**कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥**

**(गी० ३।६-७)**

'बाहरी इन्द्रियों को संयत रखकर जो मन ही मन इन्द्रियों के विषयों का चिन्तन करता रहता है वही मूढ़ व्यक्ति कपटाचारी है। किन्तु जो मन के द्वारा समस्त इन्द्रियों को वशीभूत कर अनासक्त भाव से कर्मेन्द्रियों के द्वारा कर्मयोग का अनुष्ठान करते हैं, वे श्रेष्ठ हैं।'

किन्तु यह तो हुआ निषेध मूलक विधान। विषय में आसक्त नहीं होऊँगा, केवल यही चिन्तन करना तो विषय का चिन्तन ही करना हुआ। इसीसे आसक्तिनाश के उपाय के साथ ही प्रेमा भक्ति की प्राप्ति का प्रत्यक्ष उपाय परवर्ती सूत्र में बताते हैं।

**अव्यावृत-भजनात् ॥३६॥**

अव्यावृत भजनात् (सर्वदा भगवान के भजन के द्वारा) [भक्ति की प्राप्ति होती है] ॥36

सर्वदा भगवान के भजन के फलस्वरूप पराभक्ति की प्राप्ति होती है ॥३६

पूर्व सूत्र में केवल त्याग की बात कही गयी है; इस सूत्र में नित्य योग की बात कही जाती है। मन एक पल भी चुप नहीं रहता—इष्ट-चिन्तन नहीं होने पर विषय-चिन्तन आकर मन में बैठ जायगा। किन्तु यदि मन को रात-दिन भजनानन्द में डुबाकर हम रख सकें तो विषय-चिन्तन का अवकाश फिर कहाँ रहता है? भजन का आनन्द जितना ही बढ़ता है, आसक्ति का उतना ही क्षय होता है, हृदय में उतनी ही इष्ट स्फूर्ति घटित होती है। मन को विषय-चिन्तन का अवसर देने पर साधना का फल नष्ट होगा—साधना के ऊपर अश्रद्धा और विरक्ति आयगी। दूसरी ओर उनके नाम से, उनके रूप में मन को मग्न कर पाने से, विघ्न का क्षय होता है, परमानन्द में स्थिति-लाभ घटित होता है।

गीता में भगवान कहते हैं, और सब कुछ भूलकर जो प्रतिक्षण उनका स्मरण करता है, नित्ययुक्त उस भक्त को वे सहज उपलब्ध होते हैं।

**अनन्य चेता सततं यो मां स्मरति नित्यशः।**
**तस्याहं सुलभ पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥**

जी० ८।१४

अभ्यास हो जाने पर विविध प्रकार से भजन इस तरह सर्वदा हो पाता है कि दैहिक सारे कार्य भी उनकी (ईश्वर की) सेवा के अंग के रूप में अनुभव हो सकते हैं। भजन के विविध अंग हैं। नारद युधिष्ठिर को

नवलक्षणा भक्ति की बात बताते हैं—

**श्रवणं कीर्तनञ्चास्य स्मरणं महतां गतेः ।**
**सेवेज्यावनतिर्दास्यं सख्यमात्मसमर्पणम् ॥**
भा० ६/११/११

'श्रीभगवान की लीला का श्रवण, कीर्तन और स्मरण, सेवा, पूजा, स्तुति, दास्य या कर्मार्पण, सख्य और आत्मनिवेदन—ये सब भजन के अंग हैं।' जब जो अच्छा लगे उस भाव का आश्रय-ग्रहणकर मन को तद्‌गत कर रखना भक्तिलाभ का उपाय है।

"जो भगवान को छोड़कर और कुछ नहीं जानता वह निःश्वास के साथ उनका नाम जपता रहता है। कोई मन ही मन सर्वदा 'राम' 'ॐ राम' का जप करता है। किसी-किसी की जीभ सदा हिलती रहती है। ज्ञान मार्ग के लोग भी 'सोऽहं' का जप करते हैं। जप करने का अर्थ है, निर्जन में निःशब्द भगवान का नाम लेना। सदैव ही स्मरण-मनन करते रहना उचित है। जप से ईश्वर-लाभ होता है। गंगा के गर्भ में डूबी हुई बहादुरी लकड़ी किनारे की जंजीर से बँधी रहती है। उस जंजीर की एक-एक कड़ी को पकड़ते हुए जाने पर बीच-बीच में डुबकी मारकर जंजीर पकड़कर जाते-जाते उस लकड़ी का स्पर्श किया जाता है। निर्जन में गोपनीय रूप से उनका नाम जपते-जपते मग्न हो जाने पर उनकी कृपा होती है, फिर उनका दर्शन होता है।"

"नाम में रूचि रखनी चाहिए। ईश्वर का नाम जपना होगा। जो नाम, वही ईश्वर—नाम और नामी में अभेद जानकर सर्वदा प्रेमपूर्वक दुर्गानाम, कृष्णनाम, शिवनाम—किसी नाम को लेकर ईश्वर को पुकारते क्यों नहीं? नाम क्या कम है? वे और उनका नाम भिन्न नहीं हैं। सत्यभामा जब तराजू पर स्वर्णमाणिक्य रखकर भगवान को तौल रही थी; तब नहीं हुआ। जब रुक्मिणी ने एक ओर तुलसी और कृष्ण का नाम लिख कर धर दिया तब ठीक से तौल हो गयी। यदि नाम जप करते-करते दिन-दिन अनुराग बढ़े, यदि आनन्द हो, तो ऐसा होनेपर फिर कोई भय नहीं। विकार कट कर रहेगा। उनकी कृपा होकर रहेगी।"

**लोकेऽपि भगवद्‌गुणश्रवण कीर्तनात् ॥३७॥**

लोके अपि (संसार में रहकर भी, अन्य लोगों के साथ भी) भगवद्‌गुणश्रवण-कीर्तनात् (भगवान के गुण-श्रवण और कीर्तन से) [भक्तिलाभ संभव होता है] ॥३७

संसार में रहकर भी या अन्य लोगों के साथ रहकर भी भगवान के गुण-श्रवण एवं कीर्तन से भक्ति की प्राप्ति होती है ॥३७

पिछले सूत्र में अव्यावृत भजन की बात कही गयी है। इससे मन में लगता है कि इस प्रकार का अखण्ड भजन संसार का त्याग एवं लोक-संग का त्याग करने पर ही संभव हो सकता है। किन्तु निःशेष रूप से विषय-त्याग और जन-समाज का त्यागकर अहर्निश भजन मे मग्न रहना तो आसान बात नहीं है। इसीसे कहते हैं, अन्य लोगों के निकट भगवान के लीला-कीर्तन और श्रवण, अन्य लोगों के निकट भगवान के नाम-गुण-कीर्तन करके भी उनके प्रति प्रेम उपजता है। मुख्य बात यह हुई कि मन को विषय से हटाकर प्रभु के चिन्तन मे डुबाकर रखना होगा—श्रवण और कीर्तन इसमें विशेष सहायक होते हैं। विषयी लोगों के साथ निवास करने पर विषय की बात बोलनी पड़ती है, सुननी पड़ती है, परिणाम स्वरूप चित्त इष्ट विमुख होता है। इसी से आवश्यकता है भक्ति के साथ नामगुण श्रवण और कीर्तन के द्वारा समय व्यतीत करने की। शास्त्र-पाठ और व्याख्या तथा शास्त्र-श्रवण, सामूहिक रूप से भजन-कीर्तन भक्ति की वृद्धि करने में विशेष सहायक होते हैं।

श्रीभगवान कहते हैं—'जो भक्तगण अपने मन-प्राण मुझे अर्पण करते हैं, वे परस्पर मेरे विषय में वार्तालाप कर और एक दूसरे को आपस में समझाकर परम सन्तोष तथा आनन्द प्राप्त करते हैं।'

**मच्चित्ताः मद्‌गत प्राणाः बोधयन्तः परस्परम् ।**
**कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥**
गी० ८।९

उनकी कथा नहीं कहने, नहीं सुनने पर जिह्वा और कान की कोई सार्थकता नहीं रहती।

**बिले बतोहक्रमविक्रमान् ये न शृन्वतः कर्णपुटे नरस्य।**
**जिह्वासती दार्दुरिकेव सूत न चोपागयत्युरुगायगाथाः॥**

'जिस कान से भगवान के नाम-गुण का श्रवण नहीं होता, वह कान साँप के बिल की भाँति है, जिस जिह्वा से उनके नाम-गुण का कीर्तन नहीं होता वह जिह्वा मेढ़क की जिह्वा के समान है।' उनके नाम-गुण के श्रवण में रत नहीं रहने पर सर्पतुल्य असत् विषय-वार्ताओं का समूह सर्वदा कान में प्रवेश करता है, उनके नाम-गुण के कीर्तन में रत नहीं रहने पर जीभ केवल मेढ़क के शब्दों की भाँति निरर्थक, कर्कश और दुःखदायक वाक्यों का उच्चारण करती है।

**संसार सिन्धुमतिदुस्तरमुत्तितिर्षो—**
**नान्य प्लवो भगवतः पुरुषोत्तमस्य।**
**लीलाकथारसनिषेवनमन्तरेण**
**पुंसो भवेद् विविध दुःखदवार्दितस्य॥**

भा० १२।४।४०

'विविध दुःख-दावाग्नि से दग्ध जीव यदि अति दुस्तर संसारसिन्धु को पार करना चाहे तो उसे भगवान पुरुषोत्तम की लीला-कथा के रसास्वादन का ही आश्रय ग्रहण करना होगा; इस भव-सागर को पार करने के लिए दूसरी कोई नौका नहीं है।'

"पहले लोग योग-याग, तपस्या करते थे। अभी कलि के जीव हैं, अन्नगत प्राण हैं, दुर्बल मन है, एक हरिनाम ही एकाग्र होकर करने से सारे दुःख-कष्ट दूर हो जाते हैं। नाम भी लो और साथ-साथ प्रार्थना भी करो—जिससे ईश्वर से प्रेम हो, और जो सब वस्तुएँ दो दिनों के लिए हैं—जैसे रुपया, मान, देहसुख—उनके ऊपर प्रीति जिससे कम हो जाय। रुपया के लिए जिस प्रकार पसीना चुलाते हो उसीप्रकार हरिनाम लेकर नाचते-गाते स्वेद निकालना होगा।"

किस प्रकार कीर्तन करना होगा?—

"जब जिस किसी देव-देवी का गीत गाना, पहले आँखों के सामने उनको खड़ा करना, उन्हें सुनाता हूँ ऐसा मन में रखकर तन्मय होकर गाना। लोगों को सुनाता हूँ, ऐसा कभी भी नहीं सोचना।"

भगवान के नाम का श्रवण-कीर्तन करने से ही आँख-कान की सार्थकता है, उसी से आनन्द होता है, उसी से शान्ति मिलती है।

**मृषा गिरस्ता ह्यसतीरसत्कथा**
**न कथ्यते यद् भगवानधोक्षजः।**
**तदेव सत्यं तदु हैव मङ्गलं**
**तदेव पुण्यं भगवद्गुणोदयम्॥**
**तदेव रम्यं रुचिरं नवं नवं**
**तदेव शश्वन्मनसो महोत्सवम्।**
**तदेव शोकार्णवशोषणं नृणां**
**यदुत्तमश्लोकयशोऽनुगीयते॥**

भा० १२।१२।४९-५०

'जिस वाणी के द्वारा प्रत्येक जीव में विराजमान भगवान नारायण का गुण-कीर्तन नहीं होता, वह वाणी विविध भावों से पूर्ण रहने पर भी निरर्थक और सारहीन है, सुन्दर होने पर भी असुन्दर है। जिस वाणी के द्वारा श्रीभगवान का गुण-कीर्तन होता है, वह वाणी ही परम रमणीय और रुचिकर है—वही सत्य, वही मंगलमय और वही परम पवित्र है, उसी वाणी के द्वारा चिरकाल तक परमानन्द की अनुभूति होती है।'

जिस किसी भी प्रकार से क्यों न हो, उनके नाम का श्रवण और कीर्तन करने से जीव का अशेष कल्याण होता है—श्रद्धा के साथ श्रवण और उच्चारण करने पर तो फिर कोई बात ही नहीं। (क्रमशः)

# स्वामी तुरीयानन्दजी के पत्र

अनुवादक—ब्रह्मचारी प्रज्ञाचैतन्य
रामकृष्ण मठ, नागपुर।

( ६ )

प्रिय ...,

पिता की सेवा करते रहना, यह भी क्या कहने की बात है ?

पिता स्वर्गः पिता धर्मः पिता हि परमं तपः।
पितरि प्रीतिमापन्ने प्रीयन्ते सर्वदेवताः ॥ *

यही शास्त्र का विधान है। तुमने सेवाधर्म अपनाया है—पिता की सेवा का तो कहना ही क्या, प्राणिमात्र की भलाई करना—तुम्हारा कर्तव्य है।

यह अवश्य ही दुःख की बात है कि तुम्हें सत्संग-लाभ नहीं हो रहा है, परन्तु उपाय भी क्या है ? तुम्हारे हृदय में जो 'पावनं पावनानाम्' निवास कर रहे हैं, अभी उन्हीं के प्रति जितना अधिक हो सके आकर्षण बढ़ाने का प्रयास करना। वे ही सारी व्यवस्था कर देंगे। ..

गाँव जाकर, तुम वहाँ कैसे हो ? नाते-रिश्ते के लोग तुम्हारे बारे में क्या सोचते हैं और तुम्हें वहाँ कैसा लग रहा है ? उन सबके साथ सद्व्यवहार करने में भूल न हो, अन्यथा सेवा-धर्म विफल हो जायगा। सर्वभूतों में प्रभु ही विराजमान हैं—यह बोध ही जीवन का प्रधान लक्ष्य है। इति।

शुभाकांक्षी
तुरीयानन्द

( ७ )

श्रीहरिः शरणम्

कनखल
२९-४-१९१२

प्रिय···

तुम्हारा २१ तारीख का पत्र मिला।...

तुमने जो और भी कुछ दिनों तक योगाश्रम में रहने का विचार किया है, वह अति उत्तम है। परन्तु चंचल न होना—धीर-स्थिर भाव का अवलम्बन करना। भीतर ही भीतर सर्वदा प्रभु का स्मरण बनाये रखना। विविध घटनाएँ मन को प्रभुस्मरण से विच्छिन्न करना चाहती हैं। फिर भी सावधानीपूर्वक स्मरण का अभ्यास दृढ़ करने में उपेक्षा न दिखाना, प्राणपण से उसे पकड़े रहना। 'आँधी वृक्ष को जितना ही झकझोरती है, वृक्ष की जड़ उतनी ही मजबूत होती है'—सर्वदा यही उपदेश अपने मानस-नेत्रों के सम्मुख रखना। बाधा-विपत्तियाँ जितनी ही अधिक आती हैं, उतनी ही ज्यादा सावधानी और प्रयास की आवश्यकता होती है। प्रभु की कृपा से, निश्चित रूप से सारी सुविधाएँ प्राप्त हो जाती हैं; जरूरत है तो सिर्फ धैर्य की, अटल-अचल विश्वास की. फिर कोई भय नहीं। प्रभु के शरणागत होकर उन्हीं के स्मरण-मनन में काल यापन करो, निःसंदेह तुम्हारा कल्याण होगा।

यहाँ पर हमलोग संभवतः और भी दो-तीन महीने रहेंगे। तुम चिन्ता मत करना, प्रभु जहाँ कहीं भी रखेंगे वहीं मंगल होगा। वे ही जानते हैं कि कहाँ रखने से तुम्हारा भला होगा। सबकुछ उन्हीं के हाथों में सौंप देने का प्रयास करना। उन्हें न भूलना ही तुम्हारा एकमात्र कर्तव्य है। वे तुम्हें चाहे जहाँ भी रखें, जैसे भी रखें, जो भी करायें, यह उनकी जिम्मेदारी है—तुम्हारा तो उन्हें न भूलने से ही हुआ। कुछ दिनों तक निरन्तर इसी प्रकार अभ्यास करते रहने पर सबकुछ आसान हो जायगा। उनसे यह हार्दिक प्रार्थना करो कि वे तुमसे सदा ही स्मरण-मनन कराते रहें। वे अन्तर्यामी हैं, ठीक-ठीक हृदय से प्रार्थना करने पर वे सुनते हैं।

हमारी यहाँ से काशी जाने की संभावना है। तुम यदि वहाँ रहे तो मुलाकात होगी। तात्पर्य यह कि उतावले न होना। मैं जो कुछ कह रहा हूँ, उसका मनोयोग के साथ धारणा और अभ्यास करने का प्रयास करना—यही मेरी हार्दिक इच्छा तथा अनुरोध है। ठाकुर सब ठीक कर देंगे। यहाँ पर इस समय काफी भीड़ है। सभी सकुशल हैं। मेरा शुभ आशीर्वाद स्वीकार करना। इति।

शुभाकांक्षी
तुरीयानन्द

□

---

*"पिता ही स्वर्ग हैं, पिता ही धर्म हैं और पिता ही परम तप हैं। पिता की प्रसन्नता में ही सभी देवताओं की प्रसन्नता निहित है।" (महाभारत-शान्तिपर्व, २६६/२१)

# अमृत फल से मुक्ति

—ब्रह्मचारी तृप्तिचैतन्य
रामकृष्ण मिशन आश्रम, पटना

महाराज शान्तनु सेन के मन में एक प्रबल इच्छा थी, चक्रवर्ती राजा होने की। उन्होंने अपने धनबल, बुद्धिबल तथा सेना-बल से नगर पर नगर विजय करनी प्रारंभ कर दी। परन्तु बहुत बार ऐसा हुआ—कि घायल होकर मृत्यु—भय से उनको रणक्षेत्र छोड़कर भागना पड़ा। तभी एक दिन उनके मन में एक और इच्छा जगी—मृत्यु पर विजय प्राप्त करनी होगी—तभी मृत्यु-भय जाता रहेगा।

महाराज शान्तनु सेन ने राज ज्योतिषी बल्लभांकाचार्य को बुलाया तथा अपने मन की इच्छा व्यक्त की—

"बल्लभांक! मैं मृत्यु पर विजय प्राप्त करना चाहता हूँ—मैं अमर हो जाना चाहता हूँ—कृपया कोई ऐसा यज्ञ बतायेंजिससे मुझे अमर फल की प्राप्ति हो"—

"महाराज! आपके पास यौवन, ऐश्वर्य, सम्पत्ति —सबकुछ हैं—परन्तु राजन्, शरीर का धर्म है क्षय, शरीर मरणशील है—शरीर की अमरता जीवन के सत्य पथ में बाधा है—आप अमर-फल-प्राप्ति की इच्छा का त्याग करें राजन्!"—बल्लभांक ने उत्तर दिया।

"बल्लभांक! मैंने तुम्हें उपदेश करने नहीं—उपाय बतलाने का आवेदन किया है। शीघ्र, अतिशीघ्र।"—राजा ने कहा।

"ठीक है राजा, आपकी इच्छापूर्ण हो। तो सुनिए, —हिमालय के ज्ञान प्रकंड प्रदेश की गुफा के पास एक वृक्ष है, जिसकी जानकारी किसी नश्वर को नहीं है, इस वृक्ष पर अमर फल लगते हैं, आप ज्ञानप्रकंड प्रदेश की झील में स्नान कर—अमर फल खा लें, आप मृत्यु पर विजयी हो जायेंगे राजन्—अमर हो जायेंगे।"

राजा शान्तनुसेन ने बल्लभांक की सहायता से ज्ञानप्रकंड प्रदेश पहुँचने का मानचित्र बनवाया तथा अपने विश्वस्त सैनिकों तथा मंत्री को लेकर ज्ञान प्रकंड प्रदेश की ओर प्रस्थान किया। मानचित्र की सहायता से शान्तनु सेन शीघ्र ही अपने गन्तव्य पर पहुँच गये—जैसा बल्लभांक ने बतलाया था—राजा ने खोज ली निर्दिष्ट गुफा। पास ही अमर फल का पेड़ था—और दूसरी ओर ठंडे जल की झील। शान्तनु सेन के आनन्द की सीमा न थी। उन्होंने मंत्री और सैनिकों को वहीं विश्राम करने को कहा और अकेले आगे बढ़ गये—झील में स्नान किया—और अमर फल प्राप्ति की इच्छा से निर्दिष्ट वृक्ष की ओर बढ़े। वृक्ष फलों से भरकर झुका था। शान्तनु सेन ने फल तोड़ने की इच्छा से ऊपर हाथ उठाया। तभी—'राजन्, ठहरें'—

यहाँ मनुष्य ध्वनि कहाँ से हुई? आस पास कोई न था—फिर हाथ उठाये—फिर एक कातर ध्वनि हुई—'राजन्, ठहरें—।'

शान्तनु सेन ने फिर आश्चर्य से भर कर चारों ओर देखा—वृक्ष के पीछे एक सुन्दर मृग खड़ा था—वही मनुष्य की भाषा में बोल रहा था।

'कौन हो तुम मृग?' शान्तनु सेन ने क्रोध से कहा!

'राजन्—मैं विश्व के मृगों का राजा था—मैंने पृथ्वी पर राज्य करने तथा सदैव भोग में लिप्त रहकर आनन्द प्राप्त करने की इच्छा की थी—राजन् मुझे इस अमर फल वृक्ष का पता किसी प्रकार चला। मैंने

इसका फल खा लिया—मैं अमर हो गया—विश्वका साम्राज्य मेरा था। विश्व की अन्यतम सुन्दरियाँ मेरी सेवा में थीं। मैंने भोग का चरम आनन्द लिया—१००० वर्षों तक राजन्—कुछ नहीं छोड़ा था—फिर एक दिन आया—सब साम्राज्य, सब भोगों से मन भर गया। फिर मृत्यु की इच्छा हुई—परन्तु मृत्यु अब स्वप्न में भी संभव न थी।"

"मृग रो रहा था—उसकी वाणी—घास के पत्ते जैसी काँप रही थी।

"मैं—मैं अब मृत्यु चाहता हूँ—मृत्यु को वरण करना चाहता हूँ—अशांति के अज्ञात स्रोत में बह रहा हूँ, परन्तु......।

राजन् ! अमर फल खाने के पूर्व सोच लो। सब भोगों के पश्चात्—भोगों का जब अन्त होगा सब नीरस मालूम होगा—और मृत्यु खोजोगे—परन्तु मर न सकोगे —क्या—क्या तुम वह दुःख झेल सकोगे ? सोचो—सोचो राजन् !"

शान्तनु सेन काँप उठा—उस दिन की कल्पना कर—हाथ नीचे झुक गये—आँखों से अश्रुओं की धारा बह चली—और अमरफल खाये बिना वे तीव्रगति से पीछे लौट पड़े।

# धर्मसार

— ब्रह्मचारी प्रज्ञाचैतन्य
रामकृष्ण मठ, नागपुर

("प्रत्येक आत्मा अव्यक्त ब्रह्म है......" राजयोग ग्रंथ से स्वामी विवेकानन्द की इस प्रसिद्ध उक्ति का यह पद्यात्मक भावानुवाद है।)

जीव हैं सभी ब्रह्म अव्यक्त
शुद्ध सत्-चित्त-आनन्द स्वरूप।
दृष्टि कर देते हैं प्रच्छन्न
जगत के मिथ्या संज्ञा-रूप ॥

हमारे जीवन का है लक्ष्य
दूर करना यह मिथ्या ज्ञान।
दमन कर प्रकृति आन्तरिक-बाह्य
'दिव्य हम हैं' यह लेना जान ॥

हमारा सत्स्वरूप अव्यक्त
मार्ग हैं अभिव्यक्ति के चार।
ज्ञान या भक्ति, कर्म या योग
करें उन्मुक्त दिव्यतम द्वार ॥

सहारा लो इनमें से एक,
अधिक या सभी मिलाकर चार।
और हो जाओ बंधन-मुक्त
यही है सर्वधर्म का सार ॥

चर्च, मन्दिर, मस्जिद, सद्ग्रंथ
बाह्यपूजा व्रत अथवा तीर्थ।
गौण हैं, अंग और प्रत्यंग
झगड़ते जन इनको ले व्यर्थ ॥

# रामकृष्ण आश्रम : छपरा (बिहार)

छपरा, ११ अगस्त। परमहंस श्रीरामकृष्ण देव के एकमात्र बिहारी संन्यासी शिष्य स्वामी अद्भुतानन्द (लाटू महाराज) की जन्म भूमि सारण जिले के मुख्यालय छपरा में आज श्रीरामकृष्ण आश्रम की स्थापना वैदिक मंत्रोच्चार एवं शंखध्वनि के बीच सादे किन्तु आध्यात्मिकता के परम पावन वातावरण में की गयी। श्रीमत स्वामी वेदान्तानन्दजी महाराज, सचिव, रामकृष्ण मिशन आश्रम, पटना, श्रीमत स्वामी शुद्धव्रतानन्द जी महाराज तथा श्रीमत स्वामी मेघानन्द जी महाराज, रामकृष्ण मिशन, राँची के क्रमशः सचिव एवं सहसचिव की शिवात्मक उपस्थिति से आश्रम का स्थापन-पर्व समारोह अत्यधिक गरिमामण्डित हो गया था। स्वामी वेदान्तानन्दजी और स्वामी शुद्धव्रतानन्दजी ने श्रीरामकृष्ण, श्री माँ सारदा एवं स्वामी विवेकानन्दजी की भव्य छवियों को काष्ठ-निर्मित एक आकर्षक पीठिका पर स्थापित कर प्राण-प्रतिष्ठा की, पूजन-अर्चन किया तथा पुष्प और नैवेद्य का अर्पण किया। धूप और अगरु की धूम-शिखा से सारा परिवेश सुवासित हो उठा था। तदुपरान्त उपस्थित नर-नारियों ने भक्तिपूर्वक संध्यारती में भाग लिया।

इस अवसर पर आयोजित जन-सभा का उद्घाटन किया श्रीमत स्वामी वेदान्तानन्दजी महाराज ने तथा अध्यक्षता की श्रीमत स्वामी शुद्धव्रतानन्दजी महाराज ने। श्रीमत स्वामी मेधानन्द किंचित् अस्वस्थ हो जाने के कारण उपस्थित रहने पर भी मुख्यवक्ता के रूप में अपना अभिभाषण नहीं कर सके।

स्वामी वेदान्तानन्दजी ने अपने संक्षिप्त उद्घाटन भाषण में रामकृष्ण और विवेकानन्द के विचारों के अनुसरण पर बल दिया और छपरे के रामकृष्ण आश्रम के प्रति अपनी मंगल कामनाएँ व्यक्त की। उन्होंने आश्रम की प्रबंध समिति के पदाधिकारियों के नामों की घोषणा भी की जिनका निर्वाचन उसी दिन हुआ था।

स्वामी शुद्धव्रतानन्दजी ने अपने ओजस्वी व्याख्यान में लाटू महाराज के जीवन, साधना और आध्यात्मिक उपलब्धियों पर प्रकाश डालते हुए कहा कि उन्होंने अपनी अनुभूति से शास्त्र को प्रामाणिकता प्रदान की। स्वामीजी ने बल देकर कहा कि आज लाटू महाराज यहाँ उपस्थित हैं और आशीर्वाद की वर्षा कर रहे हैं। उन्होंने कहा कि आज का युग ही रामकृष्ण-विवेकानन्द का युग है। हम चाहकर भी उनसे प्रभावित हुए बिना रह नहीं सकते। अगर देश को मनुष्य चाहिए तो उसे रामकृष्ण-विवेकानन्द की ओर जाना ही पड़ेगा। यही कारण है कि आज रूस और चीन में भी रामकृष्ण-विवेकानन्द को सम्मान की दृष्टि से देखा जाने लगा है।

आरंभ में अतिथियों का स्वागत करते हुए डा० केदारनाथ लाभ ने कहा कि आज का दिन छपरा के लिए ऐतिहासिक महत्व का दिन है। डा० लाभ ने छपरे में रामकृष्ण आश्रम की आवश्यकता और उसके कार्यक्रमों पर प्रकाश डाला तथा आश्रम के लिए अपने मकान का निचला हिस्सा देने के लिए श्री उमेशचन्द्र को धन्यवाद दिया।

आश्रम की प्रबन्ध समिति के निम्नलिखित पदाधिकारी निर्वाचित हुए–श्री राय मनेन्द्र प्रसाद—अध्यक्ष, श्री उमेशचन्द्र एवं प्रो० ए० के० मुखर्जी—उपाध्यक्ष, डा० केदारनाथ लाभ—सचिव, श्री ब्रजमोहन प्रसाद सिन्हा एवं श्री राम प्रताप सिंह—सह सचिव, श्री शिशिर कुमार मल्लिक—कोषाध्यक्ष तथा श्री रविशंकर श्रीवास्तव—सदस्य (अंकेक्षक)।

कुमारी कल्पना तथा कुमारी आरती एम०ए० ने मधुर सुर में भजन गाये। नालन्दा के एस०पी० श्रीराम छबीला सिंह द्वारा धन्यवाद ज्ञापन के उपरान्त रामकृष्ण-आश्रम के स्थापन-पर्व का प्रसाद-वितरण के साथ श्रावण पूर्णिमा की ज्योत्सना-स्नात संध्या में समापन हुआ।

### रामकृष्ण-विवेकानन्द आन्दोलन : विचार गोष्ठी

रामकृष्ण-विवेकानन्द आन्दोलन पर गहन अध्ययन के लिए रामकृष्ण मिशन आश्रम, पटना की ओर से १५ और १६ सितम्बर १९८४ को एक विचार गोष्ठी

का आयोजन किया गया है। १५ सितम्बर को १० बजे पूर्वाह्न रवीन्द्र भवन, पटना में इस गोष्ठी का उद्घाटन होगा। उद्घाटन करेंगे श्री अखलाकुर्रहमान, राज्यपाल, बिहार। प्रोफेसर निमाई साधन बसु, रामकृष्ण-विवेकानन्द आन्दोलन अध्ययन-समिति के सचिव, विषय का प्रवर्तन करेंगे और अध्यक्षता करेंगे श्री एस० एस० संधवालिया, मुख्य न्यायधीश, पटना उच्च न्यायालय।

गोष्ठी की अन्य बैठकें रामकृष्ण मिशन आश्रम के प्राङ्गण में होंगी। उसी दिन २ बजे अपराह्न से द्वितीय सत्र की बैठक होगी जिसकी अध्यक्षता करेंगे श्री कृष्णवल्लभ नारायण सिंह, अवकाश प्राप्त मुख्य न्यायाधीश, पटना और मद्रास। विषय होंगे—(१) रामकृष्ण-विवेकानन्द आन्दोलन: भारतीय धर्मनिरपेक्षता और राष्ट्रीय एकता। (२) स्वामी विवेकानन्द और समाजवाद (३) स्वामी विवेकानन्द की सर्वव्यापकता। प्रतिनिधि होंगे— श्रीमती सांत्वना दासगुप्ता, प्रो० उपेन्द्र ठाकुर, प्रोफेसर वीरेश्वर गांगुली, डॉ० जगदीशचन्द्र झा तथा डा० सरोजिनी शरण।

१६ सितम्बर को ९ से १२ बजे तक तीसरा सत्र होगा। अध्यक्ष होंगे डॉ० गणेश प्रसाद सिन्हा, कुलपति, पटना विश्वविद्यालय। विषय होंगे—(१) स्वामी विवेकानन्द और लोक शिक्षा, (२) रामकृष्ण विवेकानन्द और भारतीय नारीत्व तथा (३) स्वामी विवेकानन्द और भारतीय पुनर्जागरण। प्रतिनिधि होंगे—प्रो० वी० पी० मजुमदार, डॉ० श्याम बिहारी सिंह, डॉ० भी० ए० नारायण तथा डॉ० (श्रीमती) अरुणा हलदर।

चौथा सत्र उसी दिन २ बजे से ५ बजे अपराह्न तक होगा। अध्यक्ष होंगे—श्री आर० श्रीनिवासन, आइ० ए० एस, आयुक्त एवं सचिव, वन विभाग, बिहार सरकार। विषय होंगे—(१) रामकृष्ण और भारतीय पुनर्जागरण (२) स्वामी विवेकानन्द और भारतीय वैज्ञानिक जगत (३) स्वामी विवेकानन्द और भारत में बुद्धिवाद तथा (४) आधुनिकायुवकों के लिए स्वामी विवेकानन्द का औचित्य। प्रतिनिधि होंगे—श्री गोपाल हलदर, श्री शिवसती प्रसाद, प्रो० विमलेश्वर डे, प्रो० जे० एन० चटर्जी. प्रो० एस० एन० दास, डॉ० रामजी सिंह तथा प्रो० राधाकृष्ण चौधरी।

समापन सत्र उसी दिन ७ बजे संध्या से ९ बजे रात्रि तक होगा। यह खुला अधिवेशन होगा जिसकी अध्यक्षता करेंगे आचार्य देवेन्द्र नाथ शर्मा, पूर्वकुलपति, पटना विश्वविद्यालय। प्रो० निमाई साधन बसु गोष्ठी की समीक्षा करेंगे और प्रो० (कुमारी) सांत्वना दास गुप्त का व्याख्यान होगा।

## श्रीमत स्वामी मेधानन्दजी महाराज

पटना, १७ अगस्त। कल स्थानीय कुर्जी अस्पताल में रामकृष्ण मिशन, राँची के सह-सचिव श्रीमत स्वामी मेधानन्दजी महाराज सेरेबरल मलेरिया के कारण चिर समाधि में लीन हो गये। उनके रामकृष्ण-लोकवासी होने के समाचार से पटना रामकृष्ण मिशन आश्रम का सारा परिसर शोकाकुल हो गया। स्वामी मेधानन्द (दिनेश महाराज) आँध्र प्रदेश के निवासी थे। उनकी उम्र ४६ वर्ष की थी। एक सम्पन्न परिवार में जन्मे स्वामी मेधानन्द अपने माता-पिता की इकलौती संतान थे। इंजिनयरिंग के छात्र-जीवन में ही उन्होंने रामकृष्ण मिशन में संन्यास ग्रहण किया था। वे बड़े ही मेधावी छात्र थे तथा हिन्दी, तेलुगु संस्कृत और अँग्रेजी के अधीत पुरुष थे। लम्बा-तगड़ा श्यामल उनका व्यक्तित्व बड़ा ही मनभावन था। सदैव एक मुस्कान उनके चेहरे पर खेलती रहती थी और बड़े शान्तचित्त से मनोयोग पूर्वक वे रामकृष्ण मिशन, राँची के दिव्यायन का कार्य-भार सँभालते थे। छपरा में रामकृष्ण आश्रम के स्थापना-समारोह में भाग लेने वे १० अगस्त को राँची से चले थे। वे वहीं से कुछ अस्वस्थ थे, फिर भी छपरा आने का उत्साह उन में भरा था। छपरा से लौटने पर पटने में वे कुछ अधिक अस्वस्थ हो गये। उन्होंने अपनी बीमारी पर ध्यान ही नहीं दिया। जब उनकी अवस्था अकस्मात् बिगड़ गयी तब हर संभव प्रयास उनकी स्थिति सुधारने के लिए किया गया। कलकत्ते से जीवन-रक्षक दवाएँ आयीं। किन्तु वे बच नहीं सके। लगता है छपरा में रामकृष्ण आश्रम की स्थापना करना जैसे उनके जीवन का आखिरी व्रत था। १७ अगस्त को पुण्य-सलिला गंगा के पावन तट बाँस घाट पर उनका अंतिम संस्कार वैदिक मंत्रोच्चार एवं हरि ॐ रामकृष्ण की ध्वनि के साथ सम्पन्न हुआ। स्वामी वेदान्तानन्द, स्वामी शुद्धव्रतानन्द, स्वामी शक्तिदानन्द, स्वामी सोमेश्वरानन्द ब्रह्मचारी शंभु चैतन्य, ब्रह्मचारी स्वरूप चैतन्य, डॉ० दिलीप सेन, श्रीराम छवीला सिंह, राय मनेन्द्र प्रसाद, डॉ० केदारनाथ लाभ, शिशिर कुमार मल्लिक आदि ने शोकाकुल हृदय से उनके दाह संस्कार में भाग लिया।

आज हमें जिसकी आवश्यकता है, वह है—लोहे के पुट्ठे और फौलाद के स्नायु। हमलोग बहुत दिन रो चुके। अब और रोने की आवश्यकता नहीं। अपने पैरों पर खड़े हो जाओ और 'मर्द' बनो। हमें ऐसे धर्म की आवश्यकता है। जिससे हम मनुष्य बन सकें। हमें ऐसे सिद्धांतों की जरूरत है, जिससे हम मनुष्य बन सकें। हमें ऐसी सर्वाङ्ग सम्पन्न शिक्षा चाहिए जो हमें मनुष्य बना सके। और यह रही सत्य की कसौटी— जो भी उसको शारीरिक, मानसिक और अध्यात्मिक दृष्टि से दुर्बल बनाये उसे जहर की भांति त्याग दो, उसमें जीवन-शक्ति नहीं है, वह कभी सत्य नहीं हो सकता। सत्य तो बलप्रद है, वह पवित्रता है, वह ज्ञानस्वरूप है। सत्य तो वह है जो शक्ति दे, हृदय के अंधकार को दूर कर दे, जो हृदय में स्फूर्ति भर दे।"

—स्वामी विवेकानन्द

विवेकानन्द साहित्य : पंचम खंड : पृ० ११९-२०